(अ)

अधिकार के अनुसार नव-नवीन योगप्रक्रियोंके निर्माते
समन्वयमहर्षि- योगदर्शन के नव-युगाचार्य
श्रीगुलाबरावमहाराज-दीपित

योग साम्राज्य दीपिका

(योग विचार)

(हिंदी)

श्रीगुलाबराव महाराज जीवनशताब्दी २०.९.२०१५
प्रकाशन दिवस - ६ जुलै २०१५

प्रकाशक -

डॉ. मिलिंद कसबेकर

अखिल भारतीय अध्यक्ष ''सक्षम''पुणे.मो.०९८८१४७९५९६
सुधाकरराव इंगोले अध्यक्ष,नागपूर.मो.०९७६५५५४६०२
अविनाश संगवयी मो.०९९२२४०७१९० / शिरीष दारव्हेकर ०९८९००७३२८७
''माधव नेत्र पेढी''१६,'देवदत्त भवन,राणाप्रताप नगर चौक, नागपूर-४४००२२
दूरभाष / फॅक्स क्र. ०७१२-२२४४९१८, मो. नं. ९९२२४०७१९०

(ब)

अनुक्रमणिका

श्रीमहाराज कौन थे ?	१	वेदों की अपौरुषेयता,	३८
योग दर्शन		ईश्वरप्रणिधान,	४१
पतंजलि मुनि,	१०	प्रणिधान-भिन्न उपायों का प्रयोजन,	४३
समाधिपाद पहले क्यों?	१२	ईश्वरप्रणिधान के दो नये प्रकार-	४५
योग का अधिकार,	१४	आत्म-अभिन्न और आत्म-भिन्न,	४६
एक रहस्य,	१६	ईश्वर का पंचक्लेश रहित स्वरूप,	४७
योग आसान और भक्ति कठिन,	१७	योग का त्याज्य अंश,	४९
कुंडलिनी,चक्र,नाड़ी आदि		योग और भक्ति की तुलना,	४९
के बारे में गलतफहमियाँ,		सांख्य योग ज्ञान भक्ति : समन्वय	५३
मनोगत नाड़ियाँ,	१८	निष्कर्ष,	५५
हठयोग तथा राजयोग,	२१	संदर्भसूचि ..... ।	५५
ध्यानयोग,	२३	**संतोंकी ग्रंथ रचना**	**५७**
स्वप्न योग,	२४	**श्रीगुलाबरावमहाराज के**	
समाधि के बारे में मौलिक विवेचन,	२६	**योगरचनाओं का सारांश**	**६०**
संप्रज्ञात समाधि,	२६	१..निदिध्यासन प्रकाश	६०
असंप्रज्ञात समाधि,	२७	२..ध्यानयोगदिवाकर	६२
असंप्रज्ञातसमाधि से प्रारब्ध नाश,	२७	३..सोपानसिद्धी	६३
असंप्रज्ञात समाधि के तीन भेद -	२८	४..हिरण्य-योग	६४
१. स्वयं से व्युत्थान,	२९	५..यम लक्षण	६६
२. दूसरों से व्युत्थान,	२९	६..योगप्रभाव ओवीबद्ध	६६
३. व्युत्थान रहित,	३०	७..योगप्रभाव गद्य	६९
त्वंपदनिष्ठ तथा तत्पदनिष्ठ	३१	८..कुंडलिनी जगदंबा	७१
समाधि,		९..योगपर २५ पत्रोंका सारांश	७३
समाधि से सर्वज्ञता,	३४	११. योग प्रश्नोत्तरी	७७
अंतस्फूर्ति का ज्ञान,	३६	११. ३ तक्ते	८५

(१)

अधिकार के अनुसार
नव-नवीन योगप्रक्रियोंके निर्माते
योगदार्शनिक
नव-युगाचार्य
श्रीगुलाबरावमहाराज
के चरणों पर
शतशः प्रणाम !

*

'सारस्वत-जन्मभूः'
इस कीर्तिकरी शब्दोंसे परिचित,
विदर्भ की भूमी में अवतरित,
अलौकिक प्रतिभासंपन्न विभूती,
मधुराद्वैताचार्य श्रीगुलाबराव महाराज !
देहात मे जन्मे महाराजजीने, चर्मचक्षुहीन और अल्पायुषी
होने पर भी विशाल वैचारिक साहित्यसंपदा निर्माण करी .और
वह अक्षर-पुष्पमाला
भारतमाता के चरणोंपर समर्पित की !
दिव्यचक्षू श्रीगुलाबराव महाराजकी
युक्तीसे समझाने की दृढ प्रतिज्ञा थी.
वे एकमेव बुद्धिनिष्ठ संत थे !
वे वैदर्भीय धरोहर के रूपमें
समुचे विश्व को प्राप्त है !
श्रीवेदव्यासजी का स्मरण दिलानेवाली
सर्वस्पर्शी सिद्धप्रज्ञासंपन्न श्रीगुलाबरावमहाराज.
'तया सिद्ध-प्रज्ञेचेनि लाभे ।
मनचि सारस्वते दुभे ।
सकळ शास्त्रे स्वयंभे । निघति मुखे'

योगेश्वर ज्ञानेश्वर महाराज का मातृरूप मे दर्शन करनेवाले

(२)

श्रीगुलाबराव महाराजजी कौन थे ?

*

१	**वेद-द्रष्टा**	:	समाधि में वेदोंका दर्शन करनेवाले द्रष्टा.
२	**वेद-श्रोता**	:	समाधिस्थिति मे वेदमंत्र के श्रोता.
३	**वेद-मीमांसक**	:	आन्तर्विरोधाभास के समन्वयकर्ता.
४	**अपौरुषेय वेदोंकी**	:	युक्ति तथा प्रमाणोसे सिद्धी करनेवाले
५	**पुराणमीमांसक**	:	पुराण वाक्यों का समन्वयक ग्रंथ रचयिता
६	**सूत्रकार**	:	९ सूत्रग्रंथ निर्माते महर्षि.
७	**आकरग्रंथ**	:	संप्रदादायसुरतरू के रचयिता

धर्माचार्य : समन्वयमहर्षी

८ धर्मसमन्वयके **९ प्रकार** किये.
९ सर्व-धर्म-उत्पत्ति के **मूल-प्रक्रिया** का विश्लेषण किया.
१० **सर्वधर्मोका अधिष्ठान** रज-तम-नाश और सत्वगुणकी वृद्धी यही है यह बताया.
११ विश्वके **'सर्व धर्म वैदिक धर्मकी शाखाए है'** यह सिद्ध किया.
१२ इस्लाम-ख्रिश्चनादींका वैदिक धर्मसे साम्य स्पष्ट किया.
१३ धर्मस्थापक के अपरिहार्य ४१ लक्षण बताए.

भक्ति के आचार्य

१४ देवर्षि नारदजीकी आज्ञासे भक्ति-धर्मकी स्थापना के लिए प्रत्येक कलियुगमें अवतरते है.
१५ गोकुलके महा-रास में अपने अनुग्रहितोंको ले जाते है.

भाष्यकार आचार्य

१६ भागवत,सांख्यसूत्र,योगसूत्र,संतवचनादींपर भाष्य किया.
१७ षड्दर्शनों के भाष्यकार आचार्य थे.
१८ वेद-पुराण-धर्म-दर्शन-शास्त्र और संतवचनोंका विरोध-परिहारकरके समन्वय किया.

मधुराद्वैताचार्य

१९ मधुराद्वैत-दर्शन के उद्घाटक थे.
२० सगुण-साकार-एकदेशीय प्रतीत होनेवाला भगवद् देह पूर्णरूपसे सच्चिदानंद ब्रह्म है यह युक्ति और प्रमाणोंसे सिद्ध किया
२१ यह भगवद्विग्रहको **'अनध्यस्तविवर्त'** यह नई संज्ञा देकर शांकर-अद्वैतको ज्ञानोत्तर माधुर्यभक्तीसे मधुर किया.
२२ उपासना- ज्ञानपूर्व और भक्ती- ज्ञानोत्तर होती है, ऐसा सिद्ध किया.

(३)

२३ 'तत्वमसि' यह महावाक्यसे अद्वैतज्ञानके बाद पराभक्तिका स्थान है, यह सिद्ध किया.

२४ पराभक्ति यह *सर्वभाव-समावेशक, *सर्वश्रेष्ठ, *विषयभावरहित है और **सत्-सुख-सुखित्व** पर अधिष्ठित है यह स्पष्ट किया.

२६ सच्चिदानंद के आनंदांश पर भक्तिकी स्थापना की.

२७ भक्तिके १६ प्रकार स्पष्ट किए.

***ज्ञानपूर्व-उपासना** : श्रवणसे सख्यभक्ति तक - ८ प्रकार.

***ज्ञानोत्तर-मध्यमा :** आत्मनिवेदनसे लालन तक - ४ प्रकार

***ज्ञानोत्तर-पराभक्ति** : माधुर्यभक्तिके २.संयोगके और २.वियोगके मिलकर ४ प्रकार.

२८ परब्रह्मका **अस्फुरण** याने **ज्ञान** और **स्फुरण** याने **भक्ति,** यह समझाया.

सांख्यदर्शन : ५ ग्रंथ

२९ **सेश्वर-सांख्य** की सिद्धी की.

३० सांख्य और **योग,** सांख्य और **वेदान्त,** परस्पर पूरक और समन्वित है यह भी सिद्ध किया.

योगदर्शन : ८ ग्रंथ

३१ अनेक नवनवीन योगप्रक्रियों की निर्मिती की.

३२ कुंडलिनी-चक्र इत्यादि संबंधी आधुनिक अभ्यासकों का भ्रम दूर किया.

३३ योगसाधनामें वेदमंत्र सुननेकी प्रक्रिया बताई.

३४ नई योग-सूत्र-संहिता की निर्मिती की.

३५ वेद और विश्व की सभी भाषा, अर्थ के तरफ एकाग्र होने से आकलन होती है यह स्वानुभव कथन किया.

न्यायदर्शन से विज्ञानशोध

३६ न्यायके प्रत्यक्षखंडके अध्ययनसे आर्य-विज्ञानके विकासकी दिशा दर्शाई.

३६ न्यायदर्शनप्रणीत विज्ञानकी प्रगति करने के लिए आस्तिक-नास्तिक सबको एक होनेका आवाहन किया.

३७ सभी लेखन-प्रतिपादन न्यायघटित युक्तिवादसे किया.

पूर्वमीमांसा : २ ग्रंथ

३८ पूर्वमीमांसा दर्शनके वे आचार्य थे. दो सूत्रग्रंथ लिखे.

(४)

आयुर्वेद : ६ ग्रंथ

३९ मानसायुर्वेदादि ८ ग्रंथों की निर्मिती की.

४० नया मूलभूत 'द्रव्य-गुण-सिद्धांत' प्रतिपादन किया.

४१ ॲलोपथीके जंतुकारणवादका खंडन करके आयुर्वेदका मनोविकार-कारणवाद सिद्ध किया.

४२ किस मनोविकारसे कौनसा रोग और किस रोग से कौनसा विकार उद्भूत होता है; इसकी जानकारी दी.

शिक्षा : शिष्य

४३ **'सुसंस्कारोंका दान याने शिक्षा'** ऐसा शिक्षाका सारभूत लक्षण बताया.

४५ शिष्योंपर अपार प्रेम था.

४६ शिष्यका अवमान कदापि सहन नही किया.

४७ **स्वशिष्योंको नमन** करके मंगलाचरण में स्थान देनेवाले वे **पहलेही महापुरुष थे.**

संगीत : २ ग्रंथ

४८ संगीतशास्त्र निर्माण किया. **'गानसोपान'**

४९ पूर्ण रसास्वाद के लिए **संगीत-चतुष्टय** का महत्व बताया.

५० गानसोपान ग्रंथ में **मार्गी** और **देशी संगीत** का सुस्पष्ट विवेचन किया.

५१ संतोंके भक्ति संगीतको मार्गी याने वैदिक संगीतका दर्जाप्रदान किया.

५२ नयी १२८ वृत्तों की रचना की.

५३ नवीन छंदों के रचनाकार थे. **छंदप्रदीप**

५४ पं.भातखंडेजीका **'महर्षि-विरोध'** किंमपि सहन नही किया. अपितु कठोर भाषा मे खंडन तथा निषेध किया.

काव्यशास्त्र - सूत्ररचना

५५ **'काव्यसूत्रसंहिता'** निर्माण की.

५६ स्वयं **कवी** थे,

५७ **काव्यज्ञ** थे,

५८ **गायक** थे,

५९ **काव्यशास्त्रके निर्माता** भी थे

(५)

भाषा

६० **त्रिभाषासूत्र :** संस्कृत-मातृभाषा-राजभाषा ये तिनों को आत्मसात करनेका सबको आवाहन किया.

६१ नयी **नावंगभाषा** निर्माण की.

६२ नावंगभाषाका **व्याकरण** भी निर्माण किया.

६३ नवीन **सांकेतिक-लघु-लिपी** का निर्माण किया.

६४ भाषा में होनेवाले **दोष** वर्णन किये.

६५ **नये शब्द** निर्माण किये. (अनध्यस्तविवर्तादि)

६६ अंग्रेजी शब्दोंके लिए तत्काल **पर्याय शब्द** निर्माण किये.

६७ **संस्कृतमें ११ पत्र** लिखे.

६८ संस्कृतमें ४१ गेय पदोंकी रचना की.

६९ संस्कृतमें **स्तोत्ररचना** की.

७० संस्कृतमें **कीर्तन** किया.

क्रीडा

७१ खेल-खेल में परमार्थ प्राप्तीकी प्रक्रिया निर्माण की.

*उपनिषदादि शास्त्रीय आधारसे **मोक्षपट** निर्माण किया.

*सांप-सिढी के रूपमें **उपनिषदादि से स्थानयोजना** की.

मनोविज्ञान

७२ मानसशास्त्रको नयी भारतीय दृष्टी दी.

७३ मनोविश्लेषण से उन्नतीका मार्ग बताया.

७४ मानस-शक्ति का अनुभव दर्शाया.

७५ भारतीय मत और मेस्मेरिझम आदि पाश्चात्य मतोंका तौलनिक मूल्यमापन किया.

दांभिकता तथा बुवाबाजी

७६ चमत्कारोंका प्रखर और मर्मभेदी वाणीसे निषेध किया.

७७ महंतोके बुवाबाजीका दंभस्फोट किया.

७८ ढोंगी साधूको प्रश्न पूछनेके लिए **'प्रश्नकदंब'** ग्रंथ लिखा.

७९ 'अमानित्व' के लिए स्वयंका अपमान करवाते थे.

८० अनाहूत श्रोता तथा प्रेक्षकोंकी भीड देखतेही वह स्थान छोड देते थे.

(६)

इतिहास

८१ इतिहासको नयी दृष्टि दी.

८२ *इतिहास कैसा लिखा जाए, *किसने लिखना चाहिए तथा कौनसे इतिहासपर विश्वास रखे, इसका समुचित मार्गदर्शन किया.

८३ **स्व-उत्कर्ष-बोधक इतिहासही** क्यों सिखाया जाए, इसका मर्म बताया.

आर्य

८४ आर्य-शब्दका अर्थ : ''सुसंस्कृत मनुष्य'' इतनाही है, वंशवाचक नहीं, यह ऐतिहासिक सत्य समर्थ युक्तिवादसे सिद्ध किया.

८५ आर्य भारतमें बाहरसे आये इसका समूल खंडन किया.

८६ आर्य बाहरसे भारतमें आये या भारतसे बाहर गये, यह दोनों मतोंका याने आगमन-निर्गमन मत का पूर्ण रूपसे खंडन किया

८७ विश्वव्यापक आर्यसंस्कृति का सिद्धांत प्रतिपादन किया.

८८ तीन हजार वर्षापूर्व सर्व जगत् में एकमेव आर्य संस्कृतीही थी, यह सप्रमाण सिद्ध करनेवाले पहलेही महापुरुष थे.

८९ शूद्र-वर्ण आर्योंका एक हिस्सा है, यह प्रमाणित किया.

९० पाश्चात्योंने किया हुआ हिंदुसंस्कृतिका विकृतीकरण खत्म करनेके लिए पूर्णरूपसे मार्गदर्शन किया.

विज्ञान

९१ आधुनिक विज्ञान के लिए नवदृष्टिदाता बने.!

९२ न्यायशास्त्रके अनुसार आधुनिक विज्ञान में शोध कैसे लगाये जाए,सोदाहरण विवेचन किया.

९३ आधुनिक शास्त्रोंका मूल भारतीयही है यह दिखानेके लिएवैदिक-प्रमाण-पुरस्सर कैसे ग्रंथ लिखने चाहिए इसका सोदाहरण मार्गदर्शन किया।

९४ चर्मचक्षुहीन होने के बावजूद भारतीयोंका अथांग विचारवैभव अपने लेखनसे प्रगट किए.

विश्वोत्पत्तीकी प्रक्रिया

९५ **ब्रह्म-वृत्ति-स्फुरणसे विश्वोत्पत्ति :** यह मूलभूत विश्वनिर्मितीकी प्रक्रिया प्रथमतः विस्तारसे प्रगट की.

९६ **ब्रह्मवृत्तिस्फुरणकी परिणती** प्रथमतःपृथ्वीतत्त्वमें और अंतमें सगुण-साकार भगवद् विग्रहतक याने **''अनध्यस्त-विवर्त''** तक ले जानेवाले श्रीगुलाबराव महाराजही है.

(७)

पाश्चात्य मतोंची समीक्षा

९७ **ॲटम्-थियरी**की अपूर्व समीक्षा की तथा खंडनभी किया.
९८ **डार्विनके** उत्क्रांतिवादका खंडन किया..
९९ **स्पेन्सरके** संशयवादका खंडन किया.
१०० **ॲनी बेझंटके** थियॉसफी का खंडन किया.
१०१ **मायर्सकी** समीक्षा की.
१०२ **नास्तिकवादका** समूल खंडन.
१०३ **जडवादका** खंडन करके **सर्वचेतनवादको** सिद्ध किया.

नीतिशास्त्र

१०४ परकीय और भारतीय नीतीका मूल्यमापन किया..
१०५ बेकन / ॲनी बेझंट / प्लेटो इ.का भी खंडन किया.

कीर्तन

१०६ कीर्तनमें पूर्वरंग-उत्तररंग कैसे रहे, इसका मार्गदर्शनकिया.
१०७ अभंगकें ७ तथा पदोंके १८ आख्यानोंकी निर्मिती की.
१०८ संस्कृतमें कीर्तन किया.
१०९ लोकगीतकार: तुंबडी,सयनाजी,स्त्रीगीतों की रचना की.
११० लावणीकार : ७७ लावणी-रचना की.
१११ नाटककार थे
११२ आत्मचरित्र लिखा.
११३ लोक-शिक्षक थे.
११४ स्त्री-शिक्षक थे.
११५ बाल-शिक्षक थे.

व्यक्ति-विशेष

११६ संस्कृत-मराठी-वऱ्हाडी-हिंदी-व्रजभाषा में लेखन किया
११७ चार वर्ष की आयु से कृष्णसाक्षात्कार था.
११८ बारहवे वर्ष की आयु से समाधिसुखका अनुभवथा.
११९ व्यावहारिक नाम - **गुलाबरावमहाराज.**
१२० नाथसंप्रदायका नाम - **पाण्डुरंगनाथ.**
१२१ अभंग-मुद्रांकित नाम - **ज्ञानेश्वरकन्या.**
१२२ रासमें सम्मीलित - **पंचलतिका गोपी.**

(८)

इतर संबोधन

१२३ **मधुराद्वैताचार्य**
१२४ **समन्वय महर्षी**
योगदार्शनिक
१२५ **दिव्यचक्षू**
१२६ **प्रज्ञाचक्षू**

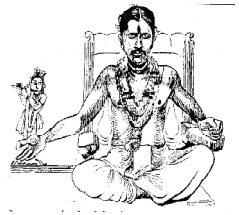

महाराजकी मानसिकता

१२७ **शरीरसे पुरुष** किंतु **भक्तिमे** : **स्त्री-सुलभ माधुर्य**
१२८ ज्ञानेश्वरकन्या-कृष्णपत्नी-गोपीभावसे : **अति कोमल**
१२९ शास्त्रचर्चा के खंडन-मंडन के समय : **तर्क-कर्कश.**
१३० बुजुर्गो को मार्गदर्शन करते समय : **पुत्रवत् नम्र.**
१३१ गलत आचरण करनेवालों के लिए : **कठोर.**
१३२ आर्य-विचारोंको निकृष्ट ठरानेवालोंको : **स्पष्टोक्त.**
१३३ इस प्रकार कोमल-नम्र-कठोर-तर्ककर्कश और सडेतोड यानेस्पष्टोक्त ऐसी सर्व मानसिक्ता की योजना, **भारत स्वयं को जानकर,सत्वसंपन्न तथा समर्थ हो, इसीके लिए की.**
१३४ अपने अल्प आयुमें, स्वप्रकृतीकी चिंता छोडकर अपार कष्ट सहन किए.
१३५ स्वयं सर्वज्ञ होकर भी लोगोंको प्रमाणपूर्वक समझाने के लिए**स्वयं सिरपर पुस्तकोंकी पेटी उठाकर गावोगांव यात्रा करनेवाले विश्वमें एकमेव संत है.**

पत्नीप्रेम

१३६ वैराग्यसंपन्न,ब्रह्मज्ञानसंपन्न,योगसंपन्न संत होकर भी पत्नी मनकर्णिकासे **अपार प्रेम किया.**
१३७ उनको विवाहके समयहि **परमार्थकी शपथ दिलाई.**
१३८ लिखना-पढना तो सिखायाही किंतु भागवतभी सहज आकलन होगा इतनी **संस्कृतकी तैयारी** करवा दी.
१३९ स्वयंके भक्तिरस में डुबे हुए गायनमें सरलतासे एकरूप होनेकी **स्वरसाधनाभी** बहाल की.
१४० लौकिक पुत्रमोहको विलक्षण रीतीसे छुडवाकर अलौकिक **वैराग्यपूर्ण भक्तिप्रेम** उनको प्रदान किया.

१४१ सौ. मणिकर्णिका का ब्रह्मस्थानमें प्रस्थान होनेपर महाराजके अंतरमेंसे **''विरहगीत''** सहज उमड पडा.

१४२ इस **'पत्नीप्रेमपराग'**मे 'विषयभाव'के स्थानपर परतत्व-स्पर्श से भीगी हुयी **भक्ति की अमृत-वर्षा** है.
यही **'वियोगोपलालन'** है !
वैराग्यसंपन्न संतमालिका में कहीभी न दिखाई देने वाला
यह विरह-विलाप जागतिक साहित्यमें एकमेव है !

विविध साहित्य प्रकार

१४३	अभंग रचना	-	२१२३
१४४	पद रचना (राग-ताल-चाल सहित)	-	२२४४
१४५	**संस्कृत पद**	-	**४१**
*	हिंदी पद	-	३०४
१४६	श्लोक	-	१०००
१४७	ओवीसंख्या	-	२३०००
१४८	गद्यपद्यमिश्र पत्र	-	११८
	संस्कृत पत्र	-	**११**
१४९	ग्रंथसंख्या	-	१४०
	संस्कृत ग्रंथ	-	**३२**
	हिंदी ग्रंथ	-	**२**
१५०	पृष्ठसंख्या	-	७०००

श्रीगुलाबरावमहाराज का योग विचार

सांख्यदर्शन के पूरक रूप में योग दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है । सांख्य के अनुसार जब साधक आत्म - अनात्म - विवेक पूरा कर लेता है, तब आत्म - तत्त्व के साक्षात्कार के लिए साधक को योग का सहारा लेना होता है । सांख्य के विचार के साक्षात्कार के लिए साधक को योग का सहारा लेना होता है । सांख्य के विचार से आत्म और अनात्म का भेद स्पष्ट हो जाने पर आत्मा के अनुभव के लिए योग की प्रक्रियाओं को आचरण में उतारना होता है । अतः इसे सांख्य - योग का युग्म कहा जाता है । सांख्य के पचीस तत्त्वों में २६ वाँ ईश्वर मिला देने से योगदर्शन बनता है । सांख्य दर्शन का अभ्यास करने पर आत्मा के अनुभव के लिए योग - अभ्यास की बड़ी जरूरत होती है । इस योगशास्त्र पर महाराज ने कुल आठ ग्रंथ लिखे है । योग प्रभाव, निदिध्यासन प्रकाश, ध्यानयोग दिवाकर, हिरण्ययोग, योगांगमययलक्षण, कुंडलिनी, जगदंबा और सोपान सिद्धि इन आठ ग्रंथों मं मात्र योग संबंधी जानकारी है तथासाधुबोध, संप्रदायसुरतरु, और पत्रों में योग के बारे में नई जानकारी और योग की असंख्य नई प्रक्रियाओं को महाराज ने लिखा है । अनेक प्रसंगों में योग की चर्चा करते समय वे आधुनिक मत का खंडन करते है और निडर होकर योग शास्त्रबद्ध रूप महाराज पाठकों के समक्ष रखते हैं । उन सबके आधार पर महाराज के मौलिक संशोधन का यहाँ संक्षेप में परिचय पाना है ।

पतंजलिमुनि

श्रीगुलाबराव महाराज योगशास्त्राचार्य पतंजलि मुनि के वचनों को प्रमाण मानकर योग के बारे में कहते है । इस बारे में आधुनिक विद्वानों में कई मतभेद, संदेह है । किंतु महाराज योगसूत्रकार पतंजलि मुनि को अनंत नाग का अर्थात् शेष का अवतार मानते हैं । भगवान शेष ने ही पतंजलि रूप से अवतार लेकर योगशास्त्र की सूत्रबद्ध रूपरेखा

तैयार की है, यह उनकी स्पष्ट धारणा है । अन्यत्र उपलब्ध शेष के अवतारों को भी महाराज परमग्राह्य मानते है और बतलाया है कि इन सभी अवतारों में दोषापनयन का कार्य समान है ।

१. आयुर्वेद : भगवान शेष ने चरकाचार्य का अवतार लेकर चिकित्साशास्त्र में चरकसंहिता का निर्माण किया और शरीर शुद्धि का अर्थात् रोग निवारण का उपाय लोगों को दिखलाया ।

२. व्यावकरण : व्याकरण पर पतंजलि का महाभाष्य बहुत प्रसिद्ध है । यह पतंजलि और योगसूत्रकार पतंजलि एक ही हैं । व्याकरण ग्रंथ लिखकर वे जीव में 'वाचा - दोष ' दूर करते हैं ।

३. सेवा : लक्ष्मण के रूप में भगवान शेष प्रभु रामचंद्र की सेवा करते है । हीन माना जाने वाला सेवा धर्म भगवान से ही जोड़ देने पर किस प्रकार से सर्वश्रेष्ठ परमार्थ दिलाता है यही इस लक्ष्मणावतार की सार्थकता है । उसी तरह से बंधु का अर्थ है बंधन कारक या ''संसार के बंधनों में बांधने वाले बांधव'' इन विविध अर्थो में निहित बंधन रूपी सभी दोष लक्ष्मण के रूप में भगवान शेष स्थापित करते हैं ।

४. नीति : कृष्णावतार में बलराम के रूप में नितिशास्त्र की रचना की है । माघ कवि की रचना, 'शिशुपाल वध', में इसका उत्कृष्ट चित्रण उपलब्ध है । नीतिशास्त्र से राजनीति और सामान्य व्यवहार के मलीन, कुटिल नीति को किस प्रकार हो, इसका उत्तम मार्गदर्शन बलराम द्वारा किया गया है ।

५. योग : पतंजलि का अवतार लेकर भगवान शेष ही योग के माध्यम से मन के विकारों को दूर करने का मार्ग स्पष्ट रूप से बतलाते है। यही वह योगदर्शन है ।इस पांचभौतिक देह की सहायता से परमेश्वर - प्राप्ति किस प्रकार से की जाये यह योगदर्शन से अज्ञानी जीव को सिखलाया जाता है ।

इस प्रकार से योग, वैद्यक, व्याकरण, नीति, दासता और बंधुप्रेम, द्वारा मन, शरीर, वाचा के दोषों को पूरा करने के लिए भगवान शेष ने कई अवतार लिये हैं । पुराणों में वर्णित इस मत को महाराज पूरी तरह से स्वीकार करते है । यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है -

योगेन चित्तस्य, पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्त प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्राञ्जलिमानतोस्मि ॥

प्रथम समाधिपाद क्यों ?

योगशास्त्र में प्रथम समाधिपाद है फिर साधनपाद है । गीता के छठे अध्याय में पहले साधन बतलाया गया है और फिर समाधि कही गई है । ऊपरी तौर पर यहाँ विरोध अवश्य दिखलाई दे रहा है किन्तु महाराज इस विरोधाभास में समन्वय बतलाते हैं।

अर्थ के अनुसार देखें तो पहले साधन और फिर फलरूप में समाधि सही क्रम लगता है । गीता भगवद्वाणी है, योगशास्त्र का मूल सूत्र रूप है । पतंजलि आदि भाष्यकार भी पहले साधन फिर समाधि या फलप्राप्ति, इसी क्रम को अपनाते हैं । फिर भी पतंजलि समाधिपाद को प्रथम बतलाते हैं, इसको कारण मीमांसा महाराज बड़े रोचक ढंग से करते हैं -

समाधिपाद से । जो समाधि संभव है हमें ।
उस हेतु नहीं यह निरूपण । साधनदियों का ॥

''केवल मन स्थिर होते ही कार्य हो जाता है'' अतः मन स्थिर करने के अनेक उपाय समाधिपाद में उपलब्ध हैं । अतः समाधिपाद प्रथम रखा गया है । एकाग्रभूमि के धरातल पर जिसका चित्त जाता है वह समाधिपाद से अध्ययन कर सकता है और -

जिसका चित्त चंचल है वह साधनपाद से अध्ययन करे यह योगप्रभाव में महाराज स्पष्ट करते हैं ।

(१३)

जिसका वैराग्य अति कड़ा है, जिसका मन विषय की ओर भागता ही नहीं है । उस एकाग्र धरातल पर जो साधक मन स्थित कर सकता है वह समाधि संपन्न हो जाता है । ऐसे उत्तम अधिकरी को शास्त्र का पूरा विस्तार बतलाने की आवश्यकता नहीं होती । उसे तो केवल समाधिवाद श्रवण करना होता है । उनमें से किसी एक प्रक्रिया का चुनाव अपनी योग्यता के अनुसार करना होता है और केवल चित्त की एकाग्रता के सहारे कृतार्थ हो जाय, यही सूत्रकारों का मत है।

किन्तु जो साधक विषयासक्त है उसे साधनपाद के यमनियमादि अष्टांग योग का प्रारंभ से अध्ययन करना चाहिए। और क्रम दर क्रम अपनी उन्नति कर ले और अंत में समाधि तक पहुँचे । इसी रूप में इस शास्त्र की रचना की गई है ।

यदि केवल शास्त्राभ्यास ही करना हो तो समाधिपाद को पहले समझ लें । ऐसा निम्न श्रुति में कहा गया है -

''आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः''॥

इसमें 'द्रष्टव्य' यह प्रथम पाद है । फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन का क्रम बतलाया गया है । उदाहरण के लिए, वृक्ष पर आम कैसा है, प्रथम यह देखें । फिर वृक्ष पर चढ़कर, श्रम करके उसे प्राप्त करें । उसी तरह साधक को प्रथम यह जानना जरूरी है कि उसे क्या हासिल करना है । यह उसे समाधिपाद से प्राप्त होता है । फिर साधन करें और अंत में समाधि रूप फल प्राप्त करें । अतः योगशास्त्र में प्रथम समाधिपाद और फिर साधनपाद ऐसा पाठक्रम है ।

''खड़ी पाई मात्राओं को मिलने से जो रूप मिलता मुकुट को ।'' इस ओवी के अनुसार उत्तम साधक सर्वांगों का श्रवण करे, अवधान दे और ''श्रवण से अवयान दें । तब सब सुख लाभ होवे ।'' ऐसा ज्ञानेश्वर महाराज भी कहते हैं ।

(१४)

इन सबसे यह निष्कर्ष उभरता है कि ''शब्द सुनाय संदेह मिटावत'' अर्थात् शब्द सुनकर ब्रह्म रूप होने वाले उत्तम अधिकारी के लिए समाधिपाद उचित है । और अन्यों के लिए साधनपाद से अभ्यास करें ऐसी व्यवस्था शास्त्रकारों ने की है ।

इस तरह से महाराज ने गीता का अर्थक्रम और योगसूत्र का पाठ क्रम दोनों में समन्वय कर विरोधाभास का निरसन किया है ।

योग का अधिकार

'अथ योगानुशासनम्' यह योग सूत्र का प्रथम वाक्य है। इसका 'अथ' शब्द मंगलकारक और आरंभवाचक है । आनंतर्यवाचक नहीं । जिस शास्त्र में 'अथ' शब्द आनंतर्यवाचक होता है वहाँ यह शर्त होती है कि उस शास्त्र का ज्ञाता आरंभ से ही साधनसंपन्न होना चाहिए । जिस तरह से यह माना जाता है कि जनेऊ संस्कार प्राप्त व्यक्ति ही वेद पठन का अधिकारी हो सकता है या वेदांत के अधिकारी को साधन चतुष्टय संपन्न होना चाहिए इस तरह से यहाँ योग शास्त्र में इसकी जरूरत नहीं मानी जाती ।

यहाँ 'अथ' शब्द आरंभवाचक है । इसका अर्थ है हर कोई अपनी -अपनी दशा में थोड़ा - बहुत योग कर ही पाता है । अतः विशेषाधिकार प्राप्त होने पर ही योग किया जाए ऐसा अर्थ अथ का नहीं है । किन्तु अभ्यास और वैराग्य का बल उसी नियम से वृद्धिगत करना चाहिए । यह महाराज का स्पष्ट मत है । निरा मूढ़ पुरुष भी योग के लिए सद्गुरु के पास जा सकता है । जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में शिष्य को पूरा तैयार करने का जिम्मा गुरु का होता है उसी तरह शिक्षा प्रणाली के अनुसार योग में यम नियम है अतः उन्हें सिखाना गुरु का काम हो जाता है । यदि कहने मात्र से शिष्य सुनता नहीं है तो उसका जिम्मा किसी भी शास्त्र में गुरु पर होने की बात नहीं लिखी है ।

परोक्षविवेक अपरवैराग्य । शमादिषडंग, मुमुक्षाभाग्य
अधिकारी काहैयह योग । कहत साधन चतुष्टय ।।१७५।।

इनमें मोक्ष की इच्छा और स्वाध्याय इन दो बातों को साधक को सौंपा गया है । और वैराग्य किस प्रकार प्राप्त किया जाय यह सिखाने का सारा जिम्मा गुरु का होता है । अतः महाराज कहते हैं - ''जो योग की इच्छा करता है वही योग का अधिकारी है ।'' अतः महाराज कहते हैं - ''जो योग की इच्छा करता है वही योग का अधिकारी है।'' अतः वही अपनी पूरी ताकत के साथ कर सकता है जिसे ब्रह्म रूप होने के लिए योग की इच्छा हैं । गुरु वचन पर दृढ़ निष्ठा पाकर शास्त्रप्रतीति, गुरुप्रतीति और स्वप्रतीति इनमें मेल बिठाया जाए, विषयासक्ति का त्याग करें, मन विषयवासनाओं को जीतें, उनके तारतम्य को समझें, समान विषयों में संपर्क रखें और धीरे - धीरे विषयदोष दर्शन से विषय दूर करें । जो ऐसा बर्ताव करता है वही योगशिखर पर आसीन हो सकता है । अनुभूत संसार क्लेशों के सम्मुख अभ्यास और मृत्यु का जिससे भय नहीं रहता वही योग का अधिकारी है । अतः ज्ञानेश्वर माऊली ने लिखा है -

स्थित वैराग्य को । बनाया सखा
वह पहचान कराता भूमिका की । साथ चलता ।।१०४३-१८ ज्ञानेश्व.

जिनमें विषयों के प्रति विरक्ति भाव नहीं है , वह भूलकर भी योगपंथ का सहारा न ले । अविरक्त द्वारा योगाभ्यास करने का अर्थ है कल का काल आज पर ले जाना । अविरक्त के अल्पशुद्ध अंतःकरण में जो भी भाव उमड़ते हैं उन भावों के अनुकूल वह किसी भी योनि में जा गिरता है । इस संबंध में जड़भरत का उदाहरण प्रसिद्ध है । किन्तु 'जड़भरत' ज्ञानसंपन्न था । हरिण जन्म पाकर भी उसका योग नष्ट नहीं हुआ था । किन्तु संसार में उलझे मन से यथारुचि योग का प्रयत्न

न किया जाय अन्यथा काल का भयानक आघात होता है और उसकी बुरी दशा हुए बिना कोई चारा शेष नहीं रहता ।

अजी, अति भोजन से अपचन । किसी की भी नहीं होती मृत्यु ।
वैसे ही कामबुद्ध से योगाचरण । वे नरक में गिरते इस जन्म ।।

एक रहस्य

वैराग्य और स्वयं के प्रयत्नों के बल पर जो योग का अभ्यास करने की इच्छा रखता है उसे एक रहस्य को अपने मन में अंकित करना आवश्यक है ।

स्वयंप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिः शास्त्रप्रतीतिः मनसश्च निरोधः ।
दिने दिने यस्य भवेत्स योगो सर्वेषु सुसंमतोऽभूत ।।

१. शास्त्रप्रतीति का अर्थ है शास्त्र में बताया सामान्य मार्ग ।

२. गुरुप्रचीति का अर्थ है शिष्य के अधिकार के अनुरूप शास्त्र से गरु द्वारा निकाला गया मार्ग ।

३. आत्मप्रतीति का अर्थ है अपने प्रयत्नों से स्वयं को प्राप्त चित्त के निग्रह का अनुभव ।

४. अपने अनुभवों को गुरुशास्त्रों से मेल बिठाना । इन तीन प्रतीतियों की सहायता से महाराज ने निष्कर्ष निकाला है कि इन्हीं तीन प्रतीतियों से योगाभ्यासी समाधि प्राप्त करता है । इन तीनों के एक होने से शास्त्र और गुरु की योग्यता - उपयोगिता के प्रति अणुभाग भी अनादर भाव उत्पन्न नहीं हो सकता । किन्तु योग के इस रहस्य को जान न पाने के कारण योगियों में आधुनिक कहलाने वालों में गुरु शास्त्र के प्रति अनादर भाव, अपने ही अनुभव की बड़ाई प्रशंसा आदि मानसिक विकृतियाँ बढ़ती हुई नजर आती हैं । परंपरा के विचारों की एकतानता कम होती जाती है । और अंत में इसका विपरीत परिणाम यह होता है कि साधक की दिशाभूल होती है, वह ठगा जाता हैं और अपनी ही

परमार्थ की परंपरा की जगहँसाई होती देखता है । अतः उपरोक्त तीन तथ्यों को समझकर ही साधक को योगमार्ग का अवलंबन करना चाहिए।

योग की सरलता और भक्ति की कठिनाई

कइयों ने देह के कष्ट को ध्यान में रखकर भक्ति को आसान माना है और योग को दुष्कर माना है । यह एक गलतफहमी है किन्तु ज्ञानेश्वर के ''योगसम सरल कोई है ?'' इस प्रश्न के अनुसार ही महाराज की मान्यता है कि वस्तुनिष्ठ मानस भाव से उत्पन्न भक्ति की अपेक्षा कर्मतंत्र से जुड़ा योग सचमुच सरल है ।

दडी - **जिसके देह में वैराग्य समाया ।**
विवेक से स्थिर चित्र बना ।।
हो कोई भी ऊँच नीच जात से ।
पर योग का अधिकारी कहलाता ।

विवेक, वैराग्य, और अभ्यास का मेल बिठाने में जो सक्षम है, फिर वह चाहे किसी भी जात का क्यों न हो, योग का पूरा अधिकार उसे प्राप्त है । महाराज ऐसी सूचना उपरोक्त पद में देते हैं ।

इस सारे विवेचन का सार इतना ही है कि योगाभ्यास करने की इच्छा रखने वाला अपनी योग्यता के बारे में सोचना छोड़ दे । वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न बनने का प्रयत्न करे । अभ्यास के समय मृत्यु का भय मन से समूल हटा दे और गुरु की आज्ञा से बड़ी दृढ़ निष्ठा के साथ ईश्वर को प्रणिपात कर अभ्यास जारी रखे ।

हममें है या नहीं योग्यता । इस शुभकर्म में न रखे चिन्ता ।
दुर्गति कल्याण जागे । यह सदैव नहीं होता ।

कुंडलिनी, चक्रे, नाड़ी आदि के बारे में गलतफहमियाँ

कुंडलिनी, षट्चक्र, सुषुम्ना नाड़ी आदि के बारे में लोकमन में बहुत-सी गलतफहमियाँ फैली हैं । उन्हें दूर करने का एक उद्देश्य

महाराज के साहित्य में दिखलाई देता है । उनके वास्तविक रूप को महाराज आसान शब्दों में कहते हैं।

अंग्रजी में जिसे फ्लेक्सेस कहते हैं उसे आज के योग चक्र कहते हैं । महाराज इस बात से सहमत नहीं हैं । एक आधुनिक पुस्तककार ने लार्जबॉवेल (आंतड़ियों) को कुंडलिनी कहा है । किन्तु आंतड़ियों को कुंडलिनी मान लेने पर वह ऊपर कैसे चढ़ेगी । वह यदि मस्तिष्क में चढ़ बैठेगी तो योगी को समाधि के स्थान पर मृत्यु का सामना करना होगा।

चक्र की अवस्थाएँ भिन्न हैं । मन में भाव जाग उठते ही शरीर में अनायास विकार उत्पन्न होता है । शरीर में स्थित गुपत बातें मन की भावनाओं द्वारा प्रकट होती हैं । उसी प्रकार चक्र, कुंडलिनी आदि मन की तीव्र भावनाओं के रूप में ही शरीर में प्रकट होने लगते हैं और फिर उनके प्रकार और परिणाम शरीर पर दिखलाई देते हैं ।

यदि ये वस्तु से विपरीत भावनाएँ होती हैं तो उन्हें झूठ कहा जाता है किन्तु वस्तु के अनुरूप भावना का होना यह झूठ संकल्पना नहीं है । छिपी वस्तुएँ शब्दों के माध्यम से मुखर होती हैं फिर भावनाओं से उन्हें प्रकट किया जाता है । योगशास्त्र पहले चक्र व कुंडलिनी बतलाते हैं और फिर वे योगी की भावना के अनुरूप प्रकट होती हैं । अतः गुरुवाय के अनुसार ही भावना की जाए । आधुनिक योगी शारीरिक चक्रों को शरीर के अंगों के नाम दिलाते हैं यह उचित नहीं है । महाराज कहते हैं कि ऐसा करने से भावनात्मकता और प्रमाणों का आभास निर्माण करना है ।

मन की नाड़ियाँ

महाराज कहते हैं कि योगप्रभाव से मन की भावनाओं को वहन करने वाली नाड़ियाँ मन के समान ही शस्त्र से टूटती नहीं हें । शव के साथ दहन नहीं होतीं क्योंकि वे मांसल नहीं हैं । वैकुंठ, कैलास, यमलोक या पुनर्जन्म आदि सभी लोकों में आना -जाना जीव इन्हीं नाड़ियों की

सहायता से करता है ।

विषय समझते हुए या उसका उपभोग करते समय मन शरीर से बाहर निकलता है फिर वह पूरे शरीर में फैलता नहीं है । सभी इन्द्रियों से निकलकर सभी विषयों की ओर एकाएक नहीं जा सकता । वह नाक से बाहर निकलता है तो त्वचा के पास नहीं होता । एक समय पर एक ही विषय का उपभोग होता है । अतः मन के आवागमन के लिए नलिकाएँ हैं । इन्हें ही मन की चित्तवाहिनियाँ कहते हैं । इन नाड़ियों से ही षट्चक्र कुंडलिनी आदि बने हैं । इन्हें हम केवल योग दृष्टि से ही देख पाते हैं । काटकर या छीलकर इन्हें देखा नहीं जा सकता । इन मानसिक नाड़ियों से ही आठ पंखुड़ियों का कमल हृदय में स्थित है । उनमें मन के सारे स्तर या शक्तियाँ निहित है। मन की इन सारी शक्तियों की पहचान एकाग्रता की दशा मं हो सकती है । स्थूल दृष्टि से पहचानना कठिन है । योगशास्त्र में ऐसे छह कमलां की कल्पना की गई है जो भावनाओं के रूप में व्यक्त होती है । अतः योगशास्त्र में 'स्थूलारुंधती' न्याय के अनुसार पहले स्थूल कमल की भावना करनी चाहिए । आठ पंखड़ियों का यह कमल छाती और पेट के बीच होता है, उसका मुख नीचे और डंठल ऊपर की ओर होता है । रेचक प्राणायाम से उसका निम्नगत मुख ऊपर करना चाहिए और उस पर बुद्धि की धारणा की जानी चाहिए ।

कुंडलिनी इन्हीं नाड़ियों से बनी हुई सर्प की तरह कुंडलाकार है । वह निद्रित होती है , उसको प्रेरित कर जाग्रत करना होता है । यह कुंडलिनी ही योग की सारी शक्ति है । ब्रह्मवेत्ता वेदांची 'शुद्धबुद्धी' कहकर इसका स्तवन करते हैं । मांत्रिक इसे 'अलौकिक शक्ति' कहते हैं । सिद्ध पुरुष उसे 'अलोकबुद्धि' कहते हैं । और योगी इसे ही

प्रणवरूप ओंकार की जन्मदात्री 'कुंडलिनी' शक्ति कहते हैं । कुंडलाकार का अर्थ है गोलघुमावदार इसका शयन है । अतः यह ओंकार रूप है । यही चैतन्य शक्ति है । चैतन्य को व्यक्त होने के लिए कोई पद या स्थान चाहिए अतः नाड़ी का आसरा लेकर इस शक्ति को कुंडलिनी कहा गया है ।

इसे ही जानिए कुंडलिनी । महाशक्ति ॥२५॥

व्याष्टि देह में कुंडलिनी सर्पिणी । समष्टि में वह सहस्त्रफनी ॥
पाने हेतु ब्रह्मस्थान । दलाल बनी कुंडलिनी ॥३३॥

(योगरहस्य कुंडलिनी जगदंबा)

वार्तिककार कहते हैं - सुषुम्ना नाड़ी का मूल भी यही है । ब्रह्मांड से बाहर निकलकर इसने ही सूर्यचंद्र को व्याप्त किया है । सारे विश्व को गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के रूप में इसने धारण किया है । ब्रह्मांड की तरह पिण्ड मं भी चित्त इसका ही आश्रय पाता है । यही मनोवाहिनी हे । इसके द्वारा ही मन लोक - परलोक में आवाजाही कर सकता है । योगी भी इसकी सहायता से समाधि में जाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं । इसे योग के बिना देखा नहीं जा सकता ।

व्यष्टि मं कुंडलिनी और समष्टि में सहस्त्रफनी एक ही है और चैतन्यमयी है । चैतन्यमय होने के कारण सांसमय और जड़ नहीं है । शरीर का च्छेद कर कुंडलिनी चक्र आदि दृश्य रूप में नहीं आ सकते । भावना के कारण वे शरीर में व्यक्त होकर उनकी शक्ति प्रतीत होने लगती है । इस रूप में इन सबका यथार्थ रूप महाराज ने अनेक प्रसंगों में स्पष्ट किया है और पाश्चात्यों के विदग्ध मतों का निराकरण कर साधकों को मार्गदर्शन दिया है ।

(२१)

हठयोग और राजयोग

आमतौर पर अध्यात्म में रुचि रखने वालों में राजयोग के प्रति श्रेष्ठ भाव और हठयोग के प्रति हीनभाव रहता है। किन्तु महाराज दोनों के भेद सुचारु रूप से दिखलाते हैं। उनके बीच का आपसी पूरक भाव भी स्पष्ट करते है। वैराग्य की आवश्यकता दोनों के लिए ही है। वैराग्य के सिवाय राजयोग भी न करें या हठयोग के झंझट में भी नहीं फंसें। ऐसा कुछ निष्कर्ष महाराज पाते हैं।

हठयोग में यम, नियम आसन और प्राणायाम के द्वारा वैराग्य और चित्त निग्रह को पाना होता है। राजयोग में केवल वैराग्य से ही काम चल जाता है परंतु वह कड़ा होना चाहिए। आधुनिक पारमार्थिक जन वैराग्य के सिवाय ही राजयोग चाहते हैं अतः उनके प्रयत्न विफल हो जाते हैं। वैराग्यबोधक शास्त्र की ओर ध्यान न दिया जाए तो समाधि की दशा हासिल नहीं हो सकती। खैर।

राजयोग एक प्रकार की मानसिकता है जबकि हठयोग में शरीर प्रधान है। यम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान आदि अंग राजयोग के हैं और यम, आसन, प्राणायाम आदि अंग हठयोग में शमिल हैं किन्तु इनके कुछ अंग राजयोग व हठयोग दोनों में समान ही हैं।

फिर भी यह स्पष्ट है कि हठयोग की समाप्ति राजयोग में होती है।

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ - गोरक्ष संहिता।

मनोयत्र विलीयते पवनस्तत्र लीयते।

पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते। - हठयोग प्रदीपिका।

जिसका वैराग्य कड़ा है उसे इंद्रियों से च्युत होने का भय नहीं है। वह राजयोग से आरंभ कर सकता है। योगवसिष्ठ में लिखा है कि राजयोग करने वाले को कचित् हठयोग करना ही चाहिए और अंततः हठयोग करने वाला राजयोग करता ही है।

(२२)

इस सारी योग प्रक्रिया में राजयोग श्रेष्ठ हैं। उसके लिए हठयोग की आवश्यकता होती है। ऐसा गोरक्षनाथ आदि योगशास्त्रज्ञों का अनुरोध है।

देहादी नियामक तामसद्रव्यशक्ति, आवरण, प्राण, इंद्रियाचलन आदि राजस में क्रियाशक्ति और विक्षेपों का निग्रह करना हठयोग में शामिल है ।केवल ज्ञानशक्ति (सत्व) के बचे संस्कारों का निरोध राजयोग से संभव है।

ज्ञानवृत्ति राज योग में। प्राणायासन में हठ ॥

वैराग और अभ्यास की सहायता से सब प्रकार के विरोध संभव हैं। वैराग के बिना केवल अभ्यास करने वाला अंत तक जा नहीं सकता। हर पल वह विषयासक्ति से घिर जाता है। अभ्यास के श्रम से वह उकता जाता है और अभ्यास छोड़ देता है।

अभ्यास बिना विरागी बनना पहले की अपेक्षा उत्तम है फिर भी प्रवृत्तियों के संयमन के बारे में वह अज्ञानी होने के कारण मृत्युपर्यंत उसे तकलीफें उठानी ही पड़ती हैं। अतः हठयोग और राजयोग के समन्वय से चित्रवृत्तियों का संयमन संभव है। यही प्राचीन योगशास्त्रों का सिद्धांत है :

१. 'नियम' के वेदांतश्रवण से तामस शक्तियों में निरोध होता है।

२. 'यम' के साथ अन्य नियमों से इंद्रियशक्ति पर संयमन आता है।

३. आसन से अवयवस्थिरता आती है।

४. प्राणायाम से सभी चलनशक्तियों का संयमन होता है और चित्र की मूढ़ावस्था समाप्त होती है।

५. क्षिप्त अवस्था का प्रत्याहार से संयमन होता है।

६. विक्षिप्त अवस्था का धारणा और ध्यान से निरोध होता है। ७. संप्रज्ञावस्था में समाधि प्राप्त होकर मन एकाग्र बन जाता है।

८. अंततः निर्विकल्प समाधि में निरुद्धावस्था प्राप्त होती है।

(२३)

योगाभ्यास का यह संक्षिप्त क्रम है । किन्तु इसमें निष्णात होना जरूरी है । मृत्यु के भय को तो जड़मूल से उखाड़ फेंकना आवश्यक है।

इस तरह से हठयोग और राजयोग परस्पर पूरक है । हठयोग के बाद का सोपान है राजयोग । अतः उनमें से किसी एक को ग्राह्य और दूसरे को अग्राह्य न माना जाए । यही महाराज ने विस्तार से समझाया है । मन को स्थिर होता न देखकर राजयोग का ही अध्ययन करना उचित लगना भी स्वाभाविक ही है किन्तु राजयोग की भी माँग है कि मन स्थिर रहे वह स्वतः स्थिर नहीं रह सकता । अपने ही प्रयत्न से, मन पर कोई संयमन न रखते हुए कोई एक मार्ग ढूँढ़ना, योगशास्त्र में इसकी स्वीकृति नहीं है ।

अब ध्यान योग को समझेंगे ।

ध्यानयोग

ध्यान यह अष्टांग योग का सातवां अंग है । फिर भी भगवद्गीता में लिखा हैं - ''ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति'' । इसका अर्थ है कि योग के बिना भी ध्यान से आत्मदर्शन संभव है ।

महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म मोक्षधर्म के लिए ध्यान योग का उपदेश देते हैं । यह अष्टांगयोग से कुछ भिन्न है अतः इसका विवेचन अलग किया जाता है ।

''प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'' इस योगसूत्र के अनुसार प्राणायाम को विकल्प माना गया है । अतः ध्यान करते समय प्राणायाम करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है । अतः ध्यान करने में योग के सारे अंगों का आचरण करना चाहिए, ऐसा भी कोई बंधन नहीं है । ध्यान में एक स्वतंत्र योग - भाव निहित है ।

उसी तरह से समाधिवाद के योगसूत्र ''यथाभिमतध्यानाद्वेति'' - के अनुसार ध्यान को 'विकल्प' कहा गया है । अतः आसन, प्रणायाम

(२४)

आदि से समुचित ध्यान किया जाए ऐसा कोई अनुरोध सूत्रकारों का नहीं है । पतंजलि भीष्माचार्य और भगवान श्रीकृष्ण इन तीनों ने ध्यान को स्वतंत्र मार्ग के रूप में अपनाया है । महाराज ने इन तीनों के वचन प्रमाण मानकर 'ध्यानयोग दिवाकर' लिखा है जिसके ध्यानमार्ग के छह अध्यायों में ध्यान की नई प्रक्रियाएँ विविध अधिकारियों के लिए बताई हैं।

स्वप्नयोग

समाधिपाद के योग सूत्र - ''स्वप्ननिद्राज्ञानालंबनं वा'' - में स्वज से योगसिद्धि अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति किस प्रकार की जाए इस बारे में लिखा गया है । इस विषय पर महाराज ने 'हिरण्योग' नाम से चार अध्यायों का एक ग्रंथ लिखा है । और यथार्थ स्वप्न को योग से उत्पन्न कैसे बनाया जाए इस पर विवेचन किया है ।

स्वप्न के चार भेद हैं - अपार्थ, अन्यार्थ, सूचक और यथार्थ । इनमें यथार्थ स्वप्न में संतदर्शन, सद्गुरुदर्शन, और ईश्वरदर्शन का समावेश है । संत, गुरु, ईश्वर को स्वप्न में देखने से उसे झूठ न माना जाए । साधक अपने मन को वहीं केंद्रित करे । और उनके उपदेशानुरूप चले । उदाहरण के लिए -

१. बुध कौशिक ऋषियों को भगवान शंकर स्वप्न में रामरक्षा बतलाते हैं और उन्होंने उसे लिख लिया ।
२. श्रीतुकाराम महाराज को सद्गुरु ने स्वप्न में मंत्रोपदेश दिया।
३. मीराबाई का वरण श्रीकृष्ण ने स्वप्न में ही किया । महाराज

इस तरह से यथाथर स्वप्न संबंधी दृष्टांत देते है और उसके अनुरूप परमेश्वर - प्राप्ति किस प्रकार से की जाए इसका संपूर्ण विवेचन करते हैं । इन महात्माओं ने स्वप्नों को झूठ नहीं माना है और इसी कारण उनका परमार्थ पूरी तरह से साध्य हुआ है । शंकराचार्य को

भी यह स्वप्नयोग स्वीकार है ।

''स्वप्नेऽवाचार्यमंत्रः श्रवण परिचित, सत्यमेति प्रबोधे ।

स्वप्नादीशप्रसादादभिलषितफलं सत्यतां प्रातरेति ।।''

उसी तरह से उन्होने वृहदाख्यक में स्वप्न ही इहपरलोक में प्राप्त सुअवसर है अतः वहाँ गुरुउपदेश और संतदर्शन सत्य ही हैं । ऐसा महाराज भी स्पष्टतः कहते हैं ।

समाधिपाद का सूत्र कहता है कि स्वप्न का उपयोग योग के लिए किया जाए । वहाँ स्वप्न के लिए पर्याय दिया गया है । अतः इस स्वप्न प्रक्रिया को एक उत्तम योग के रूप में मिल जाता है । जिस साधक का मन एकाग्र नहीं है उसके लिए साधनपाद की प्रक्रियाएँ उपयोगी साबित होती हैं और जिसका चित्त समाहित है ऐसों के लिए समाधिपाद में नानाविध प्रक्रियाएँ उपदिष्ट हैं अतः स्वप्नयोग का समावेश श्रेष्ठ योगों में होता है ।

स्वप्नेन सत्वजन्येन वृत्तिरोधः प्रजायते ।।५।।

सत्वस्य, मध्यसंवेगात् योगत्वं लभतेऽचिरात् ।।६।।

महाराज के 'हिरण्ययोग' ग्रंथ में स्वप्न के संबंध में विस्तार से जानकारी दी गई है । इसके स्वप्न सें वृत्तिरोध होता है और मध्यसंवेगरूपी सत्वगुणों से युक्त स्वप्नों का उपयोग वृत्तिरोध के लिए किया जाए तो योग पूरा होता है । ऐसा स्पष्टतः महाराज बतलाते है ।

स्वप्नयोगसाधना के लिए शिथिलांगासन और ध्यान कइयों के लिए सहायक साबित हुआ है । अतः उसका प्रयोग करें । मृदु संवेग से अर्थात् ध्यान धारणा से सात्विक बनें । अंतःकरण में ईश्वर को प्रयत्नपूर्वक लाना चाहिए । फिर मध्य संवेग से उसे स्वप्न में देखें ओर अंत में तीव्र संवेग से हृदय में उसका साक्षात्कार करके योगी बन जाएँ।

मृदुसंवेगों से सत्वांतःकरण में । भावरूप से प्रकट करें कैवल्यदाता

को उसे ही मध्यसंवेग से देखकर स्वप्न में । तीव्रयोग से हृदय में देख योगी कहलाए ।।१९।। - हिरण्ययोग अ. १

महाराज इस प्रकार मृदु - मध्य - तीव्र संवेगों का क्रम बतलाकर स्वप्नयोग के बारे में मार्गदर्शन करते है ।

समाधि पर मौलिक विवेचन

सारे योग दर्शन का ध्येय असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करना है । समाधि का अर्थ है - ध्येय और ध्याता का एक होना । यह एकरूपता योग की सहायता से प्राप्त करनी चाहिए । योगशास्त्र के अनेक ग्रंथों में संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात आदि समाधि प्रकारों पर विस्तार से लिखा गया है । किन्तु महाराज उसके सूक्ष्म भेद और नए रहस्य बतलाते है । उन्होंने असंप्रज्ञात समाधि के तीन प्रकार और दोन नए प्रकार ''त्वंपदनिष्ठ समाधि'' और ''सत्पदनिष्ठ समाधि'' बतलाए हैं । अब उनसे हम परिचित होंगे । **(तक्ता नं. १)**

संप्रज्ञात समाधि

इसमें ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं किन्तु उस एकरूपता का अहसास बना रहता है । इसे ही सविकल्प या सबीज समार्थ्य कहते हैं । इसके चार प्रकार है -

१. सवितर्क समाधि - स्थूल पदार्थों से (चाहे वह ईश्वर हो या अन्य कोई विषय हो) एकरूपता प्राप्त करना । इसे वितर्क संप्रज्ञात समाधि कहते है।

२. सविचार समाधि - सूक्ष्म वस्तु से चित्त एक होना उदाहरण के लिए पुष्प की गंध से एकरूप होना आदि । इसे विचार संप्रज्ञात समाधि कहते है ।

३. सानंद समाधि - यह रज और तम इन मनोविकृतियों के

निःशेष हो जाने पर सत्व के आनंद से एकरूप होना है । इसे आनंद संप्रज्ञात समाधि कहते हैं ।

४. अस्मिता मात्र या सास्मित समाधि - ब्रह्मानंदत्व की प्राप्ति के बाद भी ''मैं ईश्वर हूँ'' इस अहंकार से एक होना (अहं ब्रह्मास्मि) पर इसमें भी एकरूपता का एहसास बना रहता है । इसे अस्मिता संप्रज्ञात समाधि कहते है ।

असंप्रज्ञात समाधि

इस प्रकार की समाधि में ध्याता और ध्येय एकरूप होते ही हैं किन्तु ''एकरूप हो गए हैं'' यह याद नहीं रहता । इसमें सहजब्रह्मरूपता होती है । इसे ही अहसास विहीन निर्विकल्प ब्रह्मस्थिति कहते हैं । इसकी सर्वश्रेष्ठता के बारे में महाराज लिखते हैं।

* अपर वैराग्य का फल - इंद्रिय निग्रह

* अभ्यास का फल - संप्रज्ञात समाधि

* पर वैराग्य का फल - असंप्रज्ञात समाधि

* योगाचार्य घेरंड मुनि के विचार में केवल भक्ति से भी असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त की जाती है ।

इसी प्रकार से अपर वैराग्य, योगाभ्यास, परवैराग्य और भक्ति से क्या - क्या प्राप्त होता है, यह बड़े संक्षिप्त रूप से बतलाते हुए योग का अंतिम फल 'असंप्रज्ञात समाधि' इसी रूप में होती है, यह बताया गया है ।

असंप्रज्ञात समाधि से प्रारब्धनाश

''प्रारब्ध कर्माणां भोगादेव क्षयः'' यह सूत्र है । इसके अनुसार ज्ञानमार्ग मं प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान प्राप्त होने पर कर्म जल जाता है और जागे बढ़ने वाला क्रियमाण कर्म भी फलपर्यवसायी नहीं हो सकता । अर्थात् उसे भुगतना नहीं पड़ता है किन्तु प्रारब्ध तो भुगतना ही

होता है ।

किन्तु योगशास्त्र का मत इससे भिन्न है, ऐसा महाराज स्पष्टतः लिखते हैं । परवैराग्य से योग की असंप्रज्ञात समाधि साध्य की जाए तो सारे कर्मों का समूल नाश हो जाता है । योग कहते हैं कि ''असंप्रज्ञात समाधि से संचित क्रिया और प्रारब्ध दोनों ही जल जाते हैं और योगी स्वेच्छा से चाहे जब समाधि ले सकते हैं ।'' विज्ञानभिक्षु का भी यही कहना है कि ''ज्ञान प्राप्त होने पर ही असंप्रज्ञात समाधि ली जाए जिससे प्रारब्ध को जीता जा सकता है ।''

शक्तिशास्त्र के अनुसार असंप्रज्ञात समाधि अंतर्बाह्य रूप से मिल सकती है । सगुण के प्रति प्रेम भाव के आधिक्य से समाधि अखंड रूप में ली जा सकती है और उससे प्रारब्ध पूरी तरह से अभिभूत हो जाता है । हृदय में ब्रह्मानुभव के समान ही बाहर भी भगवत्प्रेम के अनुभव से भक्त का चित्त प्रारब्ध को भुगतने के लिए देह पर आता ही नहीं है । सगुण श्रीहरि का आलंबन छूट नहीं पाता और इस दशा में सुख - दुखों का भोग भक्त किस तरह से पा सकेगा ! इसी तरह ईश्वर प्रणिधान के साथ योग से साध्य असंप्रज्ञात समाधि से प्रारब्ध का भी नाश होता है ऐसा महाराज ने प्रतिपादित किया है ।

असंप्रज्ञात समाधि के तीन प्रकार

यह असंप्रज्ञात समाधि ईश्वरप्रणिधान से बड़ी शीघ्रता के साथ प्रापत होती है । अतः योगशास्त्र में भक्ति के उचित संयोग से योग का प्रतिपादन किया गया है । योगाचार्य घेरंडमुनि स्पष्ट कहते हैं कि योग के सिवाय केवल भक्ति के माध्यम से भी परमप्राप्ति होती है । योगसूत्र में दो स्थलों पर ईश्वरप्रणिधान के बारे में उल्लेख है उनमें :

* साधनपाद के ईश्वरप्रणिधान से सप्रंज्ञात समाधि प्राप्त होती

है और

* समाधिपाद के ईश्वरप्रणिधान से असंप्रज्ञात समाधि मिलती है ।

यह असंप्रज्ञात समाधि तीन प्रकार की है -

१. अपने आप ही व्युत्थान पाने वाली

भागवत में श्रीकृष्ण मुचकुंद राजा से कहते हैं कि योग - प्राणायाम आदि से समाधि प्राप्त की जाती है फिर भी योगी अपने आप ही व्युत्थान प्राप्त करता है । क्योंकि उसकी सारी वासनाएँ निरुद्ध होती हैं, नष्ट नहीं होती हैं । ''असीनवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थिमत्'' वासनाओं के शेष होने के कारण योगी को अपने आप ही व्युत्थान होता है और जग में भ्रम ही भ्रम है यह स्पष्ट हो जाने पर उसका मिथ्या रूप पुनः प्रतीत होने लगता है । किन्तु प्रारब्ध के सुख - दुख, अल्प मात्रा में क्यों न हों, भुगतने ही पड़ते हैं । इस स्थिति में, ईश्वरप्रणिधान को न अपनाने वाला योगी अभिप्रेत है । महाराज कहते हैं -

स्वयं ही समाधि से प्रथमतः पाये व्युत्थान ॥६१॥ - गीता संगति

यह अपने आप ही व्युत्थान पाने वाली असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप है । इसे वे प्रथम प्रकार मानते हैं ।

२. दूसरों से व्युत्थान पाने वाली

योगवासिष्ठ में प्रल्हादाख्यान है । प्रल्हादने असंप्रज्ञात समाधि जान ली थी । उसका व्युत्थान ही नहीं हो रहा था । वह दस हजार वर्ष समाधि दशा में था । अतः उसके असुर प्रजाजन उन्मत्त होकर देव ब्राह्मणें को त्रस्त करने लगे थे । यह देखकर भगवान् विष्णु अपने शंखनाद से उसे समाधि से जगाते हैं । यह दूसरों द्वारा व्युत्थान दिलाने वाली समाधि है।

द्वितीय है दूसरों से । व्युत्थान दिलाना ॥६१॥ - गीता संगति

३. व्युत्थानरहित असंप्रज्ञात समाधि

तृतीय है व्युत्थानरहित । शिखिध्वज राजा सम ॥

तृतीयों का कदाचित व्युत्थान होता । फिर भी भंग न हुई समाधि ॥६२॥ - गीतासंगति

योगवासिष्ठ में शिखिध्वज राजा की समाधि नियति के कारण व्युत्थान पाती है किन्तु उसके ब्रह्मानंद मं यत्कचित् ही कमी नहीं आई । वृत्तियों का व्युत्थान होने का अर्थ है वृत्तियाँ स्फुरित होने पर भी समाधि से प्राप्त ब्रह्मानंद का अनुभव टूटता नहीं है । अर्थात् लोगों को लगता है कि समाधि भंग हुई है किन्तु शिखिध्वज की दृष्टि से समाधि अखंडित ही थी ।

इस प्रकार की समाधि कभी भी खंडित नहीं होती । अधिक - से - अधिक महान् लोग जीवन्मुक्त दशा में लीला भाव से विचरण करते दिखलाई देते हैं, अज्ञानियों को परमार्थ का उपदेश करते हैं । फिर भी लोगों को वृत्तियों के स्फुरण की प्रतीति की अवस्था में भी उनकी समाधि वैसी ही बनी रहती है ।

असंप्रज्ञात समाधि इस शब्द का अर्थ है - ध्यान करने वाला और ध्येय दोनों में अहसास रहित एकरूपता आना । इस स्थिति में जीव - ईश्वर यह भेद पूरी तरह नष्ट हो जाता है । वृत्तियों के पुनरुत्थान में भी यह भेद पुनः उत्पन्न नहीं होता । समाधि की यह अखंड स्थिति अधिभारक और ज्ञानोत्तर पराभक्ति को अपनाने वालों में सदैव कायम रहती है । महाराज कहते हैं :

इतनी प्रदीर्घ समाधि । भगवदभक्ति से पाये अखंड ।
ऐसा कहते घेरंड । योगाचार्य मुनि ॥६६॥ - गीता संगति

इस प्रकार के योगशास्त्रकार घेरंडाचार्य का प्रमाण देकर महाराज भक्तियुत योगशास्त्र के सूक्ष्म को विशुद्ध कर बतलाया है ।

त्वंपदनिष्ठ और तत्पदनिष्ठ समाधि

प्रियलीला महोत्सव इस ग्रंथ में त्वंपदनिष्ठ और तत्पदनिष्ठ ये दो नए समाधि प्रकार महाराज ने बतलाए हैं । उनके बारे में जान लेना जरूरी है ।

त्वंपदनिष्ठतया आत्मरूपे समाधिः ॥

तत्पदनिष्ठतया प्रेममये भगवति समाधिः॥

तयोः रक्षणं तु महावाक्य निष्ठतया कृतम् । अथापि इच्छादेप्रारब्ध दोषतः इत्यादिवत् । सगुण रूपतिरोधानं अपश्यन् सन् व्यत्थितोऽस्मि । तदा तदैव रूपं दिहृदृक्षुरहं पुनः ब्रह्म. ज्ञानवानपि तेनैव रूपेण आकृष्ट चेताः पुनरपि समाधिनिष्ठोऽभवम् ।

किन्तु तत्पदार्यनिष्ठतया वीक्षमाणोऽपि रूपदर्शनाभावेन निर्गताशया वैक्लव्यं प्राप्तवान ॥

इस तरह श्रीनारद, भागवद के प्रारंभ में व्यास को बतलाते हैं । यहाँ महाराज ने 'त्वंपदनिष्ठ समाधि' और 'तत्पदनिष्ठ समाधि' के सूक्ष्म अर्थभेद को व्यक्त करने वाले दो नए शब्द बतलाये हैं । अतः भक्ति की समाधि क्या होती है, इसका रहस्य जानना संभव होगा । अब इसके बारे में हम सोचते हैं ।

१. त्वंपदनिष्ठ : आत्म - अभिन्न

योगाभ्यास या ज्ञानाभ्यास से त्वंपद के स्थान पर अर्थात् अंतरात्मा के स्थान पर हृदय में 'आत्माभिन्न' समाधि धारण की जाती है । इसे साधन करते समय बाह्यनामरूपात्मक जग का व्यतिरेक करना होता है । किन्तु इसमें समाधि से पुनः प्राप्त होने वाले व्युत्थान में नाम रूपों का मिथ्याभास बना ही रहता है ।

(तक्ता -२)

२. तत्पदनिष्ठ समाधि : आत्म - भिन्न

उपरनिर्दिष्ट त्वंपदानिष्ठ अर्थात् आत्मा से अभिन्न रहकर प्राप्त समाधि धारण करने पर वृत्तियाँ बार - बार स्फुरित होती हैं । वृत्तियाँ हृदय से बाहर की ओर दौड़ती हैं । उस समय भक्तों की वृत्ति का विषय मिथ्या जग के नाम रूप नहीं होते हैं, प्रेमपूर्ण आनंद और इदंता के रूप में, सगुण साकार रूप में भगवद्विग्रह होता है । तब तत्पदनिष्ठ अर्थात् आत्मभिन्न समाधि को प्राप्त किया जा सकता है । इसमें भगवान का सगुण साकार रूप का व्यापक दर्शन होता है । सभी नाम प्रेमरूप भगवान के ही होते हैं इसका एहसास होता है । जहाँ मन दौड़ता है वहाँ भगवान के सुकुमार चरणों का अनुभव होता है । अनन्य प्रेम के कारण मैं की भावना लुप्त हो जाती है । अहंकार पूरी तरह से विलीन हो जाता है । इसे ही 'अपैण - रूप' प्रेम कहा गया है । अहंकार पूरी तरह से विलीन हो जाता है । इसे ही ' अर्पण - रूप' प्रेम कहा गया है । संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियों में परम प्रेम इसी तत्पदनिष्ठा में प्रकट होता है । योग और ज्ञान से व्यतिरेकानुभव होने के बाद तत्पदनिष्ठ बाह्य समाधि पराभक्ति द्वारा प्राप्त की जाती है और अन्वय पूरा हो जाता है । प्रिय लीला महोत्सव, यष्टि ३, अध्याय ६, पृ. ८४

इन दोनों बाह्य और आंतर समाधियों का संरक्षण 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से किया जाता है । इस तत्पदनिष्ठ समाधि का उल्लेख भक्तिमय रूप योगशास्त्र में विस्तार से नहीं मिलता । इसका कारण यह बतलाया गया है कि परमप्रेम का गुरुगम्य सिद्धांत गुरुमुख से ही सुनना चाहिए । अगर इस प्रकार के सिद्धांत रूपी मोती संत साहित्य में यहाँ - वहाँ बिखरे हुई मिलते हैं । तत्पदनिष्ठ और आत्म - भिन्न इन दो नए नामों से महाराज ने समाधि के बारे में साफ शब्दों में लिखा है । वह ज्ञानोत्तर भक्ति से अनुभूत होने वाली, बाहरी जान पड़ने वाली सगुण

श्रीहरि में रत समाधि के अलावा दूसरा कुछ नहीं है । अर्थात् यह समाधि योगयुक्त पराभक्ति से शीघ्र साध्य है ।

त्वंपदनिष्ठ समाधि को काष्ठसमाधि, गौणताप्रदर्शक नाम भी संतों ने दिया है । वह अन्वयरूपिणी भक्ति अर्थात् तत्पदनिष्ठ सहज समाधि की तुलना में निचला सोपान है । किन्तु प्रथम इसे प्राप्त किए बिना ऊपरी सोपान पर चढ़ा नहीं जा सकता अतः इसका महत्त्व अनिवार्य रूप से है चाहे वह निचला सोपान ही क्यों न हो ।

मुक्ताबाई कहती है -

हो गए तटस्थ नहीं !वह समाधि । उपायों से शुद्धि पानी है ।
काष्ठ समान जड़ हुए तुम । स्वरूप को जानो श्रम से ही ॥

तुकाराम महाराज करते हैं -

तटस्थता को कहता समाधि । खुले आम दुर्गति होती ॥

महाराज लिखते हैं -

पहले कहा समाधि । वह थी तटस्थ बुद्धि ।
सर्व व्यापक सिद्धि । घट नहीं सकती ॥२॥
उमड़ पड़तीं नाना रूप वृत्तियाँ पर दुखदायी वे नहीं ॥
आकाश में पवन, सागर में तरंग । ऐसी ही ये ब्रह्मरंग सी वृत्तियाँ सारी ॥
तुमसें वृत्तियाँ सारी हो लीन । जड़ बनना क्यों चाहता?॥
चेतन है वस्तु विश्वमय स्फूर्ति । नहीं नानावृत्ति रूप हैं॥
ब्रह्म की तरंग समान मानों यह विश्व । जानकर रंग आत्मरंग का ॥
जो जो वृत्तियां मेरी न कहाओ । ब्रह्म में करें स्थिर बुद्धि ॥

इस तरह से महाराज ने संतों के उद्धरणों की सहायता से सविस्तर विवेचन किया है । त्वंपदनिष्ठ निर्गुण व्यतिरेक समाधि को काष्ठ समाधि या तटस्थ समाधि आदि नामों से पुकारकर उसका सहज

समाधि की दृष्टि से गौणत्व स्पष्ट करना चाहा है । काष्ठ के समान जड़ होकर समाधि का सुख भोग करने की अपेक्षा ''वृत्तियों के स्फुरित होने पर भी ब्रह्मसुख में कोई कमी नहीं आती'' यही श्रेष्ठ अवस्था मानी जाए । और अनध्यस्त विवर्त श्रीकृष्ण पर प्रेम करने मात्र से ही यह सहज समाधि सहजता से प्राप्त होती है । इस बात को महाराज युक्तिपूर्वक स्पष्ट करते हैं । इसे पढ़ते समय मराठी कवि श्रीधर की इस उक्ति का स्मरण होता है -

''बोलता चलता फिरता । पर उसकी समाधि न टूटती।''

कुल मिलाकर महाराज दो बातें स्पष्ट करते हैं -

* 'नेति नेति' इसे श्रुति में वर्णित त्वंपदनिष्ठ निर्गुण समाधि का स्वरूप, और

* सर्वगंधः सर्वरसः । सहस्रशीर्षः सहस्रपादः । इस श्रुति में वर्णित अन्वय रूप भक्ति से प्राप्त तत्पदनिष्ठ समाधि का स्वरूप । इसमें वृत्तियों का स्फुरण है, व्युत्थान है, सर्वनामरूप चिद्विलासप्रत्यय है । इस तरह से महाराज समाधि की अनुभूति के सूक्ष्म सूत्रों को सुलझाकर बतलाते हैं । उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर अब जानना चाहिए ।

समाधि से सर्वज्ञता

समाधि प्राप्त होते ही योगी सर्वज्ञ बन जाता है । हम अक्सर सुनते हैं कि ''येन विज्ञातेन सर्व विज्ञातं भवति''। योगशास्त्र में इसके उपाय बतलाए गए हैं । किन्तु वे कैसे होते हैं इस बारे में महाराज आसान शब्दों में बतलाते हैं । यह एक नई बात अवश्य हैं । विभूतिपाद में कहाँ - कहाँ संयम रखने पर किन - किन विषयों का ज्ञान हो सकता है इस बारे में विस्तार से लिखा है । उन सबका मतितार्थ महाराज के योगप्रभाव इस ग्रंथ में सम्मिलित है ।

जिस समाधि दशा में शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों एकरूप होकर

मन में उभरते हैं उसे सवितर्क समाधि कहते हैं । अर्थात् विष्णु पर चित्त एकाग्र किया जाए तो विष्णु के वैकुंठ में होने पर भी योग को उसका साक्षात्कार वहीं होगा । इस सवितर्क समाधि में जो साक्षात्कार होता है उसे 'अपर प्रत्यक्ष' कहते हैं । इसके भी दो प्रकार हैं - प्रज्ञाप्रत्यक्ष और इंद्रियप्रत्यक्ष ।

प्रज्ञाप्रत्यक्ष का अर्थ है जिस ज्ञान में कोई संदेह शेष नहीं रहता ऐसा ज्ञान । जैसे -मन है यह हम प्रत्यक्ष रूप से समझ सकते हैं किन्तु आंखों से दिखाई नहीं देता । साथ ही इस ज्ञान से किसी भी प्रकार की रुकावट भी पैदा नहीं होती । जिसमें संदेह उत्पन्न होने की कोई बात ही नहीं होती वही ज्ञान प्रज्ञाप्रत्यक्ष या आत्मप्रत्यक्ष कहलाता है । समाधि में योगी 'ऋतंभरा' नामक प्रज्ञा प्राप्त होती है, इसकी सहायता से योगी सभी विषयों को देख सकता है ।

इसमें शब्द का स्मरण नहीं होता अर्थात् मन में शब्द के न उभरने पर भी अर्थ त्रिपुटिरहित ध्यान केंद्र में उभरता है और चित्त मात्र तन्मय हो उठता है । इसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं । शब्द का संकेत छोड़कर केवल अर्थ को ही ध्यान में धारण कर योगी अन्य विषयों का साक्षात्कार करते हैं वही यह निर्वितर्क समापत्ति हैं । इसमें वस्तु के साक्षात्कार के लिए अनुमान व शब्दों की आवश्यकता नहीं है । जहाँ चित्त जाता है वहीं उसे ज्ञान प्राप्त होता है । शब्द के स्मरण से ही योगी ज्ञान प्राप्त करेगा, ऐसी स्थिति यहाँ कदापि नहीं होती ।

''योगी को प्राप्त यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही शास्त्र और अनुमान के लिए बीजरूप है ।'' (योगप्रभा, व पृ. ४५६)

ज्ञानेश्वरी में, जैसा कहा गया है, कि ''सभी शास्त्रों के बीच का अपरिचय का भाव समाप्त होने का स्थान'' यही है । न्याय, व्याकरण, सांख्य, योग, वेदांत आयुर्वेद आदि शास्त्र व्यवहार में परस्पर लड़ते-

झगड़ते हैं किन्तु इन सबका मूल रूप उस एक समाधि दशा में ही है । अतः बाहर भले ही वे एक - दूसरे का विरोध करते दिखलाई दें मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है । यही ''सकल शास्त्रांची अनोळखी फिटे।'' ओवी का आशय है ।

अंतस्फूर्ति का ज्ञान

ज्ञान होने के तीन प्रकार हैं - निसर्गतः इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान, विचार ज्ञान और अंतःस्फूर्ति ज्ञान । जिस योग में विचार के बिना संतुष्टि मिलती है वह 'अंतःस्फूर्ति का ज्ञान' कहलाता है । यह ज्ञान सारे ज्ञानों से उच्च है । किन्तु इस ज्ञान में विचार का विरोध नहीं होता । वह भी विचार में ही सम्मिलित हो जाता है और दूसरों को वह विचार के रूप में ही मिलता है । समाधि में योगी को ऋतंभराप्रज्ञा उत्पन्न होकर अंतःस्फूर्ति से ही प्राप्त होता है ।

बड़े - बड़े शास्त्रज्ञ भी एकाग्रावस्था में जाकर ही महान् खोज करते हैं । उन सभी नए विचारों का स्फुरण इस सवितर्क समाधि में ही होता है । किन्तु वे शास्त्र अनजाने में ही उस एकाग्र अवस्था में चले जाते हैं और योगी समझ - बूझकर उस अवस्था को प्राप्त करते हैं । यही इन दोनों में अंतर है ।

निर्वितर्क समाधि में शब्दों के बिना ही सभी अर्थो का ज्ञान होता है । अतः इसे सवितर्क समाधि से श्रेष्ठ माना जाता है । सभी भारतीय शास्त्रकारों ने आयुर्वेद, न्याय, सांख्य, ज्योतिष, संगीत, गणित आदि सब तरह के लौकिक और अलौकिक शास्त्रों का ज्ञान इस निर्वितर्क समाधि से प्राप्त किया है अतः इसमें वर्णित ऋतंभरा प्रज्ञात्ते प्राप्त हैं, यथार्थ ज्ञान हैं इस कारण इन सब शास्त्रों में विषय को उसकी गहराई में परखा गया है । अतः आज चाहे जितनी खोज की जा रही है उन सबका संदर्भ प्राचीन आर्यशास्त्र में कहीं - न - कहीं उपलब्ध अवश्य है । समाधि में

(३७)

प्राप्त ज्ञान के अनुसार ऋषि - मुनियों ने सूत की रचना की और फिर उनकी शिष्य परंपरा ने उस शास्त्र का विकास किया । अतः भारतीय शास्त्रों का विकास विशाल हैं किन्तु उसमें मूल से हटकर नया बताने योग्य अब कुछ शेष नहीं है । उसकी बारीकियां नए ढंग से बतलाई जाती हैं । किन्तु मूल के विरोध में कुछ नहीं कहा जा सकता । यह भारतीय शास्त्र की विशेषता आज भी अनुभूत की जा रही है । दार्शनिक समाधि में प्रज्ञाप्रत्यक्ष द्वारा विषय को साक्षात्कार करते हैं और तदनुरूप शास्त्ररचना करते हैं । कम शब्दों में सर्वतोमुखी सूत्ररचना की गई है । आगे चलकर इन्हीं सूत्रों पर विचारवंत अभ्यास करते हैं । देशकालानुरूप उत्पन्न समस्याओं का हल ढूँढ़ निकालते हैं । इस क्रम से ही इन शास्त्रों में विकास होता गया । किन्तु यह सारा विस्तार मूल रूप से सूत्र में ही उपलब्ध है ।

इसके विपरीत पाश्चात्य परंपरा में पुराने विचारों को त्याज्य मानकर फिर अपने नए विचार शास्त्रज्ञ रखते है । नई खोज पुरानी खोजों को मुर्दों की तरह गाड़ देती है । हमारी भारतीय संस्कृति में ऐसा नहीं होता । तर्क और प्रयोग दोनों ही परस्पर मिल - जुलकर मूल सूत्र के विचारों को विस्तार देते हैं । इसी कारण भारतीय शास्त्र में एकदम से नया ऐसा कुछ दिखाया नहीं जा सकता किन्तु उसका आयोजन अवश्य नए ढंग से होता है । इसी तरह से यहाँ शास्त्र के विस्तार के लिए अमाप अवसर हैं किन्तु मूल सूत्र उसी रूप में कायम रहते हैं और रहेंगे । इस समाधि स्थिति में प्राप्त ज्ञान को कोई भी ऋषि- मुनि अपना नाम देने के लिए तत्पर नहीं है । सारे कार्य का श्रेय वे ईश्वर को ही देते हैं । अतः सभी ज्ञानशाखाओं को ईश्वरप्रणित ही माना गया है । उनका त्रिकालबाधित्व भी इस कारण ही सच सिद्ध होता है ।

उसे सिद्ध प्रज्ञा से पाया जाय । मन में साहित्य प्रसूत होय ।

(३८)

सभी शास्त्र स्वयंभू कहलाये । मुख से फूट पड़ते ॥ - ज्ञाने. ४५४-५६ ॥

इसी तत्त्व के अनुसार शास्त्र की तह में जाकर चर्चा करने की महाराज की वृत्ति का परिचय मिलता है । महाराज की छोटी उम्र, जन्म से प्राप्त अंधापन, छोटे गाँव में जन्म, शिक्षा का अभाव आदि सभी कठिनाइयाँ होते हुए भी विस्तृत (प्रकांड) वैचारिक साहित्य रचना निर्मिति का रहस्य समाधि की इस ऋतंभरा प्रज्ञा में ही समाविष्ट है । ऐसा कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगता है।

वेदों का अपौरुषेयत्व

सभी वैदिक और आस्तिक दर्शन प्रभाव और युक्तियों के साथ बतलाते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, वेद ईश्वर प्रणित हैं, नित्य हैं, ब्रह्मदेव के मुख से सृष्टि के आरंभ में वेद का प्रादुर्भाव हुआ । ''यस्य निश्वसितंवेदाः'' ऐसे अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है । किन्तु महाराज प्रमाण और युक्ति को अपने अनुभव से भी जोड़ते हैं । योगशास्त्र से प्रायोगिक रीति से वेद की अपौरुषेयता का, ईश्वर प्रणित तत्त्व का, उसकी नित्यता का अनुभव किस तरह से लिया जाए इसका विवेचनर कर योगशास्त्र के महत्त्वपूर्ण अंश पर प्रकाश डाला है ।

योगियों और ज्ञानमार्गियों को समाधि दशा में अनहद नाद सुनाई देता है । योगियों ने 'शब्द' पर ''धारणा - ध्यान - समाधि रूपी संयम'' किया है अर्थात् अनहद नाद के दस प्रकार प्रथम सुनाई देते हैं, फिर ओंकार ध्वनि सुनाई देती है । योगी उपासना यदि केवल निर्गुण उपासना है तो उसे केवल दस प्रकार के अनहद नाद सुनाई देंगे । किन्तु यदि वह ईश्वर प्रणिधानपूर्वक संयम धारण करता हुआ योगी होगा तो उसे ओंकार के बाद वेदों में मंत्र भी सुनाई देते है । इसे ही ''वेदश्रवण'' कहते हैं । इन मंत्रों की संख्या अनंत है । ''अनन्ता वै वेदाः'' इनमें से

(३९)

कुछेक ही ऋषियों ने लोककल्याण के लिए प्रकट किए हैं और अन्य शेष तो सामान्यों के लिए अव्यक्त ही है । सृष्टि के प्रारंभ में ओंकार उत्पन्न हुआ । फिर ब्रह्म के मुख से वेद उत्पन्न हुए । यदि शब्द के समान ही उत्पन्न होते ही उसका लय (लुप्त होना) हो जाता तो ऋषियों - मुनियों का स्वर बार - बार सुनाई नहीं देता । किन्तु वेद नित्य हैं अतः वैदिक ऋषियों पौराणिक मुनियों, योगियों और संतसत्पुरुषों को समाधि में वेद ज्यों के त्यों आज भी सुनाई देते हैं इस पूरे विषय पर महाराज 'योगप्रभाव' में विस्तार के साथ लिखते हैं।

''नाद कण्ठ से उत्पन्न होता है अतः जीभ के मूल में इसकी धारणा होती है । वहाँ शब्द के धारण होते ही प्रथम अनहद नाद सुनाई देता है और फिर ओंकार और फिर दिव्य शब्द सुनाई देते हैं । ये दिव्य शब्द अर्थपूर्ण होते हैं । यह केवल धारणा का फल है । यदि इसी धारणा को ईश्वर के प्रणिधान के साथ स्वीकारा जाता है तो पहले ओंकार (चूँकि वह दिव्यशब्द है) ही सुनाई देगा और फिर श्रुतियाँ सुनने में आएँगी (योगप्रभा । व पृ. २४५२४६) ऋषियों ने भी इसी रीति से श्रुतियाँ सुनी थीं । भागवत में ''वृत्तिरोधाद्विभाव्यते'' अर्थात् धारणा से ही प्रणव सुनाई देता है ।

ऐसे इस ध्यानयोग से ही सर्वधर्म के संस्थापक ईश्वर का साक्षात्कार कर उनकी वाणी का श्रवण करते हैं और फिर लोगों के अधिकार के अनुरूप अलग -अलग धर्मों की स्थापना करते हैं । विवेकानंद भी कहते हैं कि सभी धर्मों की प्रवृत्तियाँ ध्यानयोग से ही प्रकट हुई हैं ।

* इस तरह से शब्द पर संयम होने से योगी भक्तों को अनहद नाद वेद रूप में सुनाई देता है । इसी कारण वेदों को श्रुती (अर्थात् सुनने योग्य सुनी हुई) यह सार्थ नाम दिया गया है ।

(४०)

* इन श्रुतियों को दिव्य दृष्टि से देखा जाता है अतः वेदों को देखने वाले ऋषियों को 'द्रष्टा' यह पारिभाषिक संज्ञा प्राप्त है ।

* कोई भी, कभी भी योगाभ्यास द्वारा वेदमंत्र को सुन सकते हैं, देख सकते है अतः वेदमंत्रों को 'नित्य' कहा गया है।

* इन मंत्रों को किसी ऋषि या जीवपुरुष ने रचा नहीं है अतः इन्हें 'अपौरुषेय' कहते हैं और 'अनाहत' का अर्थ है किसी के भी द्वारा न बजाए गये - अपने आप ही उत्पन्न होने वाले ।

ऐसे इन सनातन वैदिक सिद्धांत का योगमार्ग द्वारा अनुभव कैसे प्राप्त किया जाए इसका विस्तारपूर्वक विवेचन और मार्गदर्शन महाराज 'योगप्रभाव' में करते हैं । उसी तरह से 'संप्रदायसुरत' के आठवें अध्याय की ओवियों में सूत्रबद्ध रचना की है।

१. योगी के चित्त का परमेश्वर हृदयाकाश के अनहद नाद से श्रुति व्यक्त करता है । तब पहले ओंकार व फिर चारों वेद सुनाई देते हैं ।

२. या कुंडलिनी के जाग्रत होने पर स्वाधिष्ठान नामक चक्र पर योगी आरूढ़ होते ही ब्रह्मदेव अपने चार मुखों से वेद बतलाते हैं, यूँ साक्षात्कार होता है ।

३. या कुंभक धारण कर ब्रह्मदेव का ध्यान हृदय में करने पर वहाँ भी अनहदनाद और उसमें सार्थशब्दोत्पत्ति अर्थात् वेद सुनाई देते हैं ।

वेदों का वह अर्थ हमें ही ज्ञात था ।

अन्य केवल वहन करते शिरोभार ॥

तुकाराम महाराज के इस कथन का अर्थ और उससे सूचित होता सिद्धांत उपरोक्त ही है ।

स्वयं महाराज भी शूद्र थे । उन्हें वेदाधिकार प्राप्त न था । उन्होंने किसी के पास वेद पठन भी नहीं किया था । वेद पढ़कर याद भी

नहीं किए । वे जन्म से अंधे थे । उन पर शिक्षा के संस्कार नहीं हुए थे । इतना होने पर भी उन्होंने उनके साहित्य में स्थान - स्थान पर वैदिक श्रुतियों के प्रमाण दिए हैं । इसका अर्थ यह होता है कि महाराज का उपरोक्त स्वानुभूति का सिद्धांत ही सही है ऐसा जान पड़ता है । योग की धारणा से वेद प्रत्यक्ष होते हैं । श्रुति रूप में सुनाई देते हैं । अतः वे अपौरुषेय और नित्य हैं । आज भी किसी की इच्छा हो तो वह शास्त्रानुसार योग प्रयत्न करे और इस सिद्धांत का व्यावहारिक (प्रायोगिक) पक्ष का अनुभव प्राप्त करें । इस तरह अनुभव से भरपूर युक्तिवाद के रूप में मानो पुराना ही सिद्धांत अपना ही उदाहरण आप बनकर नए ढंग में महाराज ने प्रतिपादित किया है । यही उनकी विशेषता है ।

ईश्वरप्रणिधान

ईश्वरप्रणिधानाद वा ॥२३॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥ समाधिपाद समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

इस तरह योगशास्त्र के इन सूत्रों में भक्ति को ऊँचा स्थान दिलाया गया है । इस स्थान विशेष के बारे में महाराज विस्तार से बतलाते हैं ।

''ईश्वरप्रणिधानाद्वा'' इस समाधिवाद के सूत्र के 'वा' इस अव्यय का अर्थ कुछ लोगों ने पर्याय कहा है, और ईश्वरप्रावधान को गौण माना है । महाराज 'वा' का अर्थ पर्याय मानते है किन्तु उसमें योग और भक्ति में समानता दर्शाते हैं । इसके अलावा एक और अर्थ स्पष्ट करते हैं । 'निश्चय' और योगसाधना के साथ समुचित ईश्वरप्रणिधान होना ही चाहिए । अथवा केवल ईश्वरप्रणिधान से 'असंप्रज्ञातसमाधि' प्राप्त हो सकती है, घेरांडाचार्य का उदाहरण देकर ईश्वरप्रणिधान का मनलजहत्त्व स्पष्ट किया है ।

समाधिपाद में पहले तीव्र संवेग से योग किया जाता है, ऐसा

कहा गया है और इन सूत्रों में कहा गया है कि वही कार्य ईश्वरप्रणिधान में भी संभव है । 'वा' यह शब्द व्याकरण के अनुसार पर्यायवादी हैं अतः तीव्र संवेगों के न होने पर भी समाधि ईश्वरप्रणिधान से प्राप्त की जाती है, ऐसा अर्थ स्पष्ट किया गया है । यह सूत्र योगशास्त्र में महत्त्वपूर्ण माना जाता है । क्योंकि इसमें भक्ति को स्वीकार किया गया है । भाष्यकार 'प्रणिधनात्' का अर्थ 'भक्तिविशेषात्' करते हैं और 'वार्त्तिककार' 'भक्तिविशेष' का अर्थ 'प्रेमलक्षणा भक्ति' करते हैं ।

साधनपाद में ईश्वरप्रणिधान का अर्थ ईश्वर की पूजा अर्चना, नियम आदि गौण भक्ति माना है । इससे संप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है । ''गौण्या तु समाधिसिद्धिः'' शांडिल्य का सूत्र इसी बात का द्योतक है और इसके बाद उपास्य में परम प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर असंप्रज्ञात समाधि प्रेमलक्षणा पराभक्ति प्राप्त होती है । अपने आप जिस तरह से हम प्रेम करते हैं वैसा ही प्रेम हम ईश्वर से करने लगते हैं । समाधिपाद में उसका नाम ईश्वरप्रणिधान है । इसके योग से ही असंप्रज्ञात समाधि तीव्र संवेग के न होने पर भी शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है ।

केवल निर्गुणध्यान की अपेक्षा सगुणध्यान से विषयासक्त चित्र शीघ्र ही निवृत्त होता है । विषय स्वयं ही पीछे रह जाते हैं और शीघ्र ही वैराग्य प्राप्त होता है । अतः 'वा' इस पर्यायी शब्द का अर्थ निश्चयार्थी है । अतः हमें जो परमेश्वर में भली लगेगी वही ध्यान उपासना की जाए ।

भक्ति न हो योगादि से । चित्रवृत्ति न शांत होती साफ।
और मुकुंद सेवा न होती युद्ध । मनोवृत्ति सहज ही शांत होती ॥५१॥
अजपा जप करता उलटे प्राणों से यहाँ भी नाम का निश्चय रहता ॥
- ज्ञाने. हरिपाठ ॥
ऐसी गुनकाणी हरिपाठ ग्रंथ में योग दृढ़ता नाम से थी॥

और मेरा एक अनुभव है । भक्ति बिना चित को ठौर नहीं मिलता ॥

भक्ति न हो तो केवल योग से, चित्तवृत्तियों का निरोध होगा किन्तु वे नष्ट नहीं हो सकेंगी । अतः समाधि से व्युत्थान होने पर फिर वासना उत्पन्न होती है, सुख - दुखों के भोग किए जाते है । इसलिए वृत्तियों के व्युत्थान में सभी वृत्तियां सगुणविग्रह पर अर्पित की जाती हैं और भीतर समाधि और बाहर भक्ति अर्थात् भीतर निर्गुणानंद और बाहर सगुणानंद, ऐसा एक ही एक ब्रह्मानुभव अखंड बनकर स्थित होता है । ऐसे पूर्णब्रह्म रूप चिद्विलास की प्रतीति पाने के लिए ईश्वरप्रणिधान की आवश्यकता है । इस पूरे विवेचन का सारांश यह है कि -

१. साधनदशा में ईश्वरप्रणिधान से संप्रज्ञात समाधि

२. समाधिपाद दशा में ईश्वरप्रणिधान से असंप्रज्ञात समाधि

३. बाद में प्रयुक्त ईश्वर प्रणिधान से व्युत्थान में भी ब्रह्मरूप प्राप्त होकर योगी पूर्ण सिद्ध होता है ।

<u>प्रणिधान के भिन्न उपायों का प्रयोजन</u>

समाधि के लिए ईश्वर प्रणिधान आवश्यक है और योग के अतिरिक्त ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि प्राप्त होती है और योग से वह सरल भी है । ऐसी दशा में प्रश्न यह उभरता है कि फिर योगशास्त्र क्यों बतलाया जाता है? महाराज इस प्रश्न का उत्तर दो सुंदर उदाहरणों से देते हैं -

१. यदि हम भोजन की तुष्टि चाहते हैं तो भोजन का सारा अनाज एकत्रित करें, अन्न पकाएँ और खाएँ तो संतुष्टि होगी अथवा माँ से प्रेमपूर्वक हठ कर भोजन की माँग करें तो वह खिलाती है ।

उसी तरह से योगशास्त्र के अनुसार कष्ट करते हुए अपने

प्रयत्नों से समाधि - सिद्धि प्राप्त करें । इस योग को कैसे सम्पन्न किया जाता है, इस पर अनेक शास्त्रकारों ने विविध ढंग से योगशास्त्र की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए विस्तृत विवेचन किया है । आगे चलकर यही शास्त्रकार बतलाते हैं कि योग का अध्ययन करते समय ईश्वर प्रणिधान हो तो शीघ्र ही योग प्राप्ति होती है या फिर केवल ईश्वर प्रणिधान हो तो योग के बिना भी फल सिद्धि होती है।

२. दूसरा उदाहरण रोगी का है । रोगी को प्यास लगने पर वह उठकर पानी पीता है तो उसकी तृष्णा शांत होती है । यदि उठकर बैठ नहीं जाता तो उसे कोई पानी पिलाए । इन दोनों पिलाने के साधनों में भिन्नता होने पर भी तृष्णा शमन में किसी प्रकार का भेद नहीं है ।

इस अर्थ में जो स्वयं ही प्रयत्न करने में असमर्थ है जिसका चित्त निर्गुण में प्रवेश पा ही नहीं सकता, उसे केवल ईश्वराधना करनी चाहिए ऐसा पर्यायी मार्ग शास्त्रकार सुनाते हैं । उपाय के लिए पर्याय के लिए पर्याय बतलाने पर भी फल एक ही है । अतः ईश्वराधन को गौण मानना सर्वथा भूल है । अतः जो योग के कष्ट करने में असमर्थ है वह कृपावंत भगवन्माता से स्तनपान की याचना करे । जिससे शारीरिक कष्ट न होते हए केवल प्रेम से ही असंप्रज्ञात समाधि तक भगवती माता की गोद में बैठकर ही पहुँचा जा सकता है ।

* योग के प्रयत्न के बिना ही ईश्वर प्रणिधान की प्रमुखता बतलाई जाती तो बिना प्रयत्न किए ही परमेश्वर ही हमारा उद्धार करेगा इस भावना से कई जीव ग्रस्त हो उठते । केवल इसी कारण से ।

* जीव प्रयत्न से प्रारंभ करे और वह ईश्वरप्राप्ति में सफल हो यह विचार भी प्रबल हो इस भावना से ईश्वरप्रणिधान का क्रम बाद में आता है ।

* सही मुमुक्षुत्व न होकर भी केवल सिद्धि की आशा से कामी

लोगों की योग की और दौड़ प्रारंभ होती है । और कामना का नियम कुछ यों है कि उसकी जितनी पूर्तता होगी उतनी ही बढ़ेगी । आग में घी के समान काम देगी । इन कमियों को यदि ईश्वर प्रणिधान बतलाया जाए तो 'ईश्वर के ऐश्वर्य हमें भी प्राप्त हों' ऐसी कामना कर बैठेंगे और एक बार ईश्वर के नित्य ऐश्वर्य की वासना बलवती हुई कि कभी भी वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती और परिणामतः वैराग्य के बगैर यह कामी ऐश्वर्य के साक्षी नहीं बन पाएँगे वरन् ऐश्वर्य के भोक्ता कहलाएँगे । अतः योगशास्त्र में वैराग्य और स्वप्रयत्न पर बल दिया गया है ।

* कामी लोगों की वासना सिद्धि में पर्यवसित होने के कारण भिन्न - भिन्न सिद्धियों के लिए भिन्न - भिन्न उपाय बतलाए गए हैं । उसके लिए कठिन परिश्रम भी करना होता है और अंत में उपायसाध्य सिद्धियाँ फलदायिनी हैं, अतः अनित्य ही हैं, अतः उनका कोई उपयोग नहीं है ।

अतएव जैसे विषयों में दुःख है वैसे ही इन सिद्धियों की प्राप्ति में भी दुःख ही है । इन्हीं कारणों से इहलोक के भोग के समान पारलौकिक व सिद्धिजन्म भोग भी श्वानशौच की तरह त्याज्य है । कामी धर्मनिष्ठावंतों के मन में यह विचार बार -बार आया और उन्हें वैराग्य की प्राप्ति हो, यही ईश्वरप्रणिधान भिन्न अनेक उपाय बतलाने का उद्देश्य है । ऐसा महाराज स्पष्ट करते हैं ।

ईश्वर प्रणिधान के दो (नए) प्रकार आत्म - अभिन्न व आत्मभिन्न

महाराज ईश्वर प्रणिधान में भी बिलकुल नए प्रकार बतलाते है । आत्म से अभिन्न और आत्मा से भिन्न यह वे प्रकार हैं । अतः 'नेति - नेति' और सर्व गन्धः सर्वरसः' इन दो श्रुतियों का विरोधभाव नष्ट हुआ और उनमें एक सूत्र संगति प्राप्त हुई है । (* योगप्रभाव यष्टि १५ ओवी ८२ - ११८)

द्विविध ईश्वरप्रणिधान । आत्मभिन्न और आत्मभिन्न । निर्गुण प्रणिप्रधान आत्माभिन्न । और आत्मभिन्न सगुणपूजा ॥८२॥ परमेश्वर की

वर्णना में । द्विविध उल्हसित हुई श्रुतिमाता । निषेध और विहित। वाक्यों के साथ ॥८६॥ वहां 'नेति नेति' आदि वचन थे । जो नहीं प्रवर्तन कर पाते आत्मभिन्न से । 'सर्वगन्धः सर्वरसः' इ. वचन में । आत्मभिन्न प्रवर्तन करते ॥८७॥ अतः स्वयत्नों से आत्म अभिन्न परेशप्रणिधान । पहला यह मुख्ययोग बतलाकर । स्वभिन्नेश प्रणिधान । पर्याय रूप में कहलाए ॥९३॥

आत्म अभिन्न प्रणिधान

आत्मा से अभिन्न ऐसा जो ईश्वर है उसके प्रणिधान का अर्थ है - निर्गुण का ध्यान, ओंकार का जप, और देहादि सभी बाह्य पदार्थों का 'नेति नेति' इस श्रृति काय द्वारा निषेध जतलाकर, हृदयस्थ आत्मा में सभी वृत्तियों को लुप्त करना । इसके लिए योग के कष्टपूर्ण प्रयत्न करने होते हैं । उससे परब्रह्म के व्यतिरेक का अनुभव प्राप्त होता है । निर्गुण समाधि स्थिति को योगी, ज्ञानी या भक्त को पानी ही होती है । इसके पश्चात् ही अन्वयानुभव ले सकते है ।

आत्मभिन्न प्राणिधान

किन्तु जिसका चित्त निर्गुण में प्रवेश नहीं पा सकता, वह पहले से स्वयं ईश्वर भिन्न है । इस भावना से मूर्ति आदि में ईश्वर की स्थापना करता है । इसे उपासना कहते हैं । इस उपासना के पूरा होते ही समाधि प्राप्त होती है । ''गौण्या तू समाधिसिद्धिः'' शंडिल्यभक्तिसूत्र । 'ददामि बुद्धियोगम्' मैं अपने उपासकों को बुद्धि देता हूँ । ऐसा गीता में श्रीकृष्ण ने आश्वासन दिया है । साधनपाद में वर्णित ईश्वरप्रणिधान यही है ।

ऐसी समाधि के बाद अर्थात् अद्वैतज्ञान की प्राप्ति के बाद भक्त की वृत्ति व्युत्थान से स्फुरित होने पर वे भगवान के सभी गुण रूपों पर अर्पित होते हैं और भीतरी निर्गुण ब्रह्मानंद के समान ही सगुण ब्रह्मानंद उससे मिलकर अन्वय रूपी पराभक्ति उसे प्राप्त होती है । इसे ही निर्वृत्तिक ब्रह्मप्राप्ति अर्थात् सहजावस्था कहते हैं ।

ऐसा प्रणिधान जिसका करना है वह ईश्वर, पंचक्लेशरहित कैसे हे, इस बात को महाराज ने भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप को बतलाते हुए विस्तार से बतलाया है ।

ईश्वर का पंचक्लेशरहित स्वरूप

१. अविद्या - भगवान श्रीकृष्ण के रूप में स्थित परमात्मा को अविद्या का कष्ट या क्लेश कदापि नहीं था । क्योंकि ''देह ही आत्मा है'' ऐसी भावना उनमें कदापि नहीं थी ।

२. अस्मिता - यदि कृष्ण देह तक ही सीमित होते तो वे अपने मुख में समाहित अनन्त ब्रह्माण्डों के दर्शन अपनी माँ को नहीं करवा पाते अतः अस्मिता का कष्ट भी उनके पास नहीं था ।

३. राग - प्रीति या राग का क्लेश नहीं था क्योंकि यादव कुल का नाश उसने ही स्वयं किया था ।

४. द्वेष - शिशुपाल आदि का वध कर लेने के बाद उनकी ज्योति को वे अपने में ही समेट लेते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि उनमें द्वेष भाव भी नहीं है ।

५. अभिनिवेश - श्रीकृष्ण में अभिनिवेश भी नहीं था । गांधारी जब उन्हें शाप देती हैं, तो उनके मुख से वचन निकलते है । ''माँ, मैं इसी शाप की बाट जोह रहा था'' । अतः उसे मृत्यु का भी भय नहीं था । दूसरे, प्रयणकाल में भी उद्धव को ज्ञान का पाठ पढ़ाकर से वह निजधाम को प्रस्थान कर गए ।

६. पुण्य - पुण्यकर्मों से भी वह मदमस्त नहीं हो सका क्योंकि वे भी उसे स्वर्ग नहीं दिला सके ।

७. पाप - गोपियों से व्यभिचार आदि पाप कर्मों का फल उसे मिला नहीं है अथवा उस कर्म के प्रति उसमें वासना भी शेष नहीं रही।

ये सारे श्लेष भगवान् कृष्ण को किसी भी काल में नहीं हुए अतः जीव के लिए वह परम पूजनीय है ।

सगुण निर्गुण दोनों जिसके अंग ।
वही हम संग रास रचे ।।- संत तुकारामजी.

इस तरह से ईश्वर का स्वरूप और ईश्वर प्रणिधान के बारे में महाराज के विचारों को समझा । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि -

१. ''ईश्वर प्रणिधनाद्वा'' इस सूत्र में 'वा' अव्यय विकल्पार्थी मान लेते हैं तो ईश्वरप्रणिधान 'सम' फल देता है अतः योग की तुलना में गौण न ठहरकर समान जान पड़ता है ।

२. 'वा' यह अव्यय निश्चयार्थी माना जाए तो योग का आचरण करते समय ईश्वर प्रणिधान सदैव रहना ही चाहिए । वासनाक्षय व मनोनाश की प्राप्ति ईश्वर प्रणिधान से ही होती है अतः वह प्रमुख है ।

३. योग द्वारा असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त करने पर चित्त फिर से व्युत्थान पाता ही है । उस समय मनोनाश और वासनाक्षय के लिए अर्थात् प्रारब्धभिभव होने के लिए सगुणभक्ति की आवश्यकता होती है अतः वह ईश्वरप्रणिधान योग से श्रेष्ठ है ।

४. केवल भक्ति होगी तो योग का प्रयत्न न करते हुए भी योग की प्राप्ति होती है । किन्तु भक्ति यह योग के लिए अनिवार्य है । अतः ईश्वरप्रणिधान रूपी भक्ति यह 'अंगी' है और योग 'अंगरूप' है । इस रूप में महाराज ईश्वरप्रणिधान के वास्तविक रूप को दिखलाकर योग के सूक्ष्म तत्त्वों को सुलझाकर बतलाते हैं ।

(४९)

योग का त्याज्य अंश

जब पुरुषबहुता, ईश्वरभिन्नता और प्रकृतिसत्यता का परित्याग किया जाता है तब योग वेदांतशास्त्र का पूरक कहलाता है । वेदांत में भी परमार्थ प्राप्ति की कोशिश करने के लिए प्रारंभ में ही पुरुषबहुता को मानकर स्वयं अकेले में ही अध्ययन करना होता है । उस समय ईश्वर को कर्मफलदाता और स्वयं से भिन्न मानकर उसकी उपासना की जाती है । किन्तु जैसे -जैसे साधक परमार्थ की ओर बढ़ता है वैसे - वैसे उसे 'एकजीववाद' और ''ईश्वर और मैं अभिन्न हैं'' यह उच्च विचार बतलाया जाता है और ज्ञानसंपन्न होते ही उसे प्रकृति ही झूठ है यह मूल उपदेश दिया जाता है । अंत में परमार्थ के मार्ग में प्रारंभ में महत्त्वपूर्ण जाने गए पुरुषबहुलता, ईश्वरभिन्नता और प्रकृतिसत्यता उन सिद्धांतों को छोड़ देना होता है । अतः इनके परित्याग से स्वयमेव ही वेदांत से समन्वय प्राप्त हो जाता है । अर्थात् जीव के अज्ञानी रहने तक ये तीनों सिद्धांत सच जान पड़ते हैं और वेदांत से ज्ञान प्राप्त४ होते ही ये अपने आप ही छूट जाते हैं ।

योग और भक्ति : तुलना

महाराज योग और भक्ति की तुलना मर्म तक पहुँचकर करते हैं । उन्होंने योग की विविध प्रक्रियाएँ बतलाई हैं, योग की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है किन्तु योग के पूर्ण संपन्न होते ही भक्ति करनी ही पड़ती है । गीता के इस सिद्धांत और अपने अनुभवों में महाराज ने समानता देखी है अतः दोनों में भेद को बतलाते हुए वे भक्ति की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हैं फिर भी योग के प्रति अनादर की भावना की प्रतीति कहीं भी नहीं होती । यह उनकी विशेषता है । इन दोनों की तुलना करते समय वे अनुकूल उदाहरण भी देते हैं ।

(५०)

१. प्रतिव्रता और योगी के मनोभावों का विचार करने से यह पता चलता है कि प्रतिव्रता को मृत्यु का भय नहीं सताता । पति पर पूरा विश्वास धरकर वे खुशी से सती हो जाती है ।

किन्तु योगी को मृत्यु का भस सताता है । प्राणायाम में प्राणों की घबराहट होगी और शायद शरीर भी गिर पड़ेगा इस भय से योगी 'प्राणायाम' 'नियमित' करते हैं । वे यह नहीं जान पाते कि भगवान का ध्यान हृदय में धारण करते ही जब मृत्यु प्राप्त होगी तब ही मुक्ति मिलेगी, भगवद्रूपता प्राप्त होगी । अतः योगियों की अपेक्षा पतिव्रता इस बारे में एक कदम आगे जान पड़ती हैं ।

२. भागवत में यज्ञपत्नियों के आख्यान में एक कथा है कि एक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी को श्रीकृष्ण के पास जाने नहीं दिया । किन्तु इस मनाही को वह सहन नहीं कर सकी, उसने उसी क्षण देहत्याग कर दिया और वह दिव्य रूप में श्रीकृष्ण मं जाकर विलीन हो गई ।

३. पतिव्रता और गोपियों के उदाहरण से भी भगवान का ध्यान करें तो मृत्यु के बाद भगवत् - प्राप्ति होती है यह स्पष्ट हो रहा है । किन्तु महाराज कहते हैं कि बड़े आश्चर्य की बात है कि योगियों को मृत्यु से भय लगता है ।

उसके बाद योग और भक्ति के बीच के सूक्ष्म भेद को महाराज बतलाते हैं । स्त्री गीतों में जो सूक्ष्म भेद उन्होंने दिखलाए हैं वे मार्मिक हैं -

१. करने में प्रायाणाम । घबराता है जीव ।

गोविन्द का नाम लिया अलि । एक होते जीव हिव

प्राणायाम से तो प्राण घबराते हैं किन्तु भक्ति से जीव और शिव का मिलन होता है ।

२. विषयों को समेटकर योग करने में बहुत कष्ट होते हैं किन्तु हरिनाम लेते ही सारा विश्व ही ब्रह्ममय जान पड़ता है।

३. योगियों का मन पर विषयों का प्रभाव रहता है तो भक्तों को विषयों का अहसास ही नहीं होता (विषय ही जिनके हुए नारायण)

४. निर्गुण का स्मरण करते समय विषय आडे आते हैं और सगुण भक्ति में विषय ही भगवानर के रूप ले लेते हैं ।

५. अजपाजप करते समय अकेला प्राण उनमें उलझ पड़ता है और प्रेम से नाम स्मरण करने में प्राण और वाचा दोनों मग्न होते हैं ।

६. योगियों की समाधि व्युत्थान में भंग हो जाती है तो भक्ति में भगवान का सगुण रूप बाहर भीतर, सब ओर दिखलाई देता है और समाधि में व्यत्यय नहीं आता ।

७. * योग से निर्गुण, भक्ति से सगुण

* ज्ञान से प्रत्यय और भक्ति से प्रत्यभिज्ञान मिलता है अर्थात् आनंद का अनुभव होता है और आनंद का बार - बार स्फुरण होता है ।

* योग से स्तब्धता और भक्ति में भले रूप में गद्‌गद हो जाते हैं । इस तरह से भक्ति से ज्ञान व प्रेम दोनों कृष्ण ब्रह्म में अर्पित होते हैं ।

८. बलपूर्वक यदि मन को योग में रत किया जाए तो कष्ट होते हैं और प्रेम उत्पन्न होते ही मन स्वयं ही वहाँ दौड़ पड़ता है । अतः श्री हरि के चरणों के बिना योग में समाधान नहीं मिल सकता ।

९. योगी इंद्रियों को कैद करते हैं और दुःखी बनते हैं । भक्त भगवान में अपने इंद्रिय अर्पण करके नित्य मुक्त रहते हैं ।

१०. सारे संसार के प्रति द्वेष भाव रखकर अकेलापन (एकाकीपन) (कैवल्य) प्राप्त करने पर ही योगध्यान करने का अधिकार मिलता है । ऐसा भक्ति में नहीं होता । सारे जीवों में श्रीकृष्ण को ही देखें और लोगों में अकेले में, हृदय में भी शंति प्राप्त कर रहें ।

११. मृत्यु के समय योगी आसन जमाते हैं, प्राणायाम करते हैं और अपने प्राण ब्रह्मरंध्र में ले जाते है । उसे बड़ी ही अचूक रीति से करना होता है तब ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

किन्तु भक्त को ऐसा कुछ करना ही नहीं पड़ता । ईश्वर को प्रेम से स्मरण करते ही वे उसके शरीर से अतीत हो जाते है । कहाँ का जन्म और कहाँ का मरण ! ये सभी भाव मिथ्या हैं ऐसी प्रतीति उन्हें मिलती है ।

१२. निर्गुण ध्यान से चैतन्य का पता चलता है ।

सगुण ध्यान से चैतन्य और आनंद दोनों की प्राप्ति होती है ।

भक्ति से मैं - भाव क्षीण होता है । अहंकार लुप्त हो जाता है और सुषुप्ति - सा अज्ञान भी नष्ट होता है ।

१३. योगी मन को जीतने के लिए मृदुसंवेगों से प्रारंभ करते हैं। उसमें कर्णतंत्र ध्यान के लिए प्रयत्न करना होता है।

भक्ति में चित्त खींचता है और वहाँ एकदम मध्यसंवेग होता है अतः योग का आरंभ मृदुसंवेग से तो भक्ति का मध्यसंवेग से होता है ।

१४. योग में संवेग तीव्र होते ही योग समाप्त हो जाता है अर्थात् योग में आचरण की आवश्यकता शेष नहीं रहती । भक्ति तीव्र संवेग के बाद भी बनी रहती है । स्वभावो भजनं हरे : ।

१५. योग को ईश्वरप्रणिधान रूप भक्ति की आशा है तो भक्ति को योग की आशा नहीं ।

१६. केवल योग से चितावृत्तियाँ निःशेष शमित नहीं होती, व्युत्थान में वे पुनः उठ खड़ी होती है । भक्ति में चित्तवृत्तियाँ सहज शमित हो उठती हैं और व्युत्थान में भी भगवत्प्रेम के साथ ही ऊपर उठती है ।

१७. योग से वैराग्य प्राप्ति के लिए हमेशा विषयदोषदर्शन करना ही चाहिए । अतः विषयों के प्रति द्वेष भाव हठ - मूल होता है । यह क्लेश दुःख ही कहलाता है ।

भक्ति में द्वेष उत्पन्न नहीं होता, प्रेम भाव से विषय ही भगवान को अर्पित करते हैं । इसमें स्वयं ही वैराग्य प्राप्त होता है और भगवान को भोग लगाने (अर्पण) से हमारा ही आनंद दुगुना हो उठता है । 'तत्सुखसुखित्वम्' प्राप्त होता है ।

१८. योग से 'काष्ठ समाधि' और भक्ति से ' चैतन्यानंद समाधि' प्राप्त होती है । इस प्रकार से योग और भक्ति के भेदों को हमने जाना । महाराज ने सूक्ष्म भेदों को बताने के साथ - साथ उसके साथ ही उन्होंने योगशास्त्र का वेदांत से समन्वय भी बतलाया है । वह इस प्रकार है -

समन्वय

सांख्य - योग - ज्ञान - भक्ति

१. परमेश्वर प्राप्ति के तीन साधन हैं ।

- उपरति, बोध और विराग ।

* योग से इंद्रिय शमित होती है ।

* सांख्योत विवेक से जड़ भोगों के प्रति अनासक्ति उत्पन्न होती है ।

* वेदांत के महावाक्यों से ब्रह्मबोध होता है ।

* अन्ततः गुरुभक्ति, शिवभक्ति और कृष्णभक्ति से सभी बाधाएँ दूर होकर भगवद्प्राप्ति होती है ।

होकर भगवद्प्राप्ति होती है ।

२. सांख्य योग और वेदांत का विचारपद्धति की दृष्टि से प्रधान सार रूप जाना जाए तो

सांख्य द्वारा 'त्वं' पदार्थ शोधन, योग से तत्परार्थ की खोज और वेदान्त से दोनों में एकता प्राप्त हो सकती है ।

फिर भी आनुषंगिक रूप से हर शास्त्र में इन तीन पदों का विचार आया ही है ।

३. योग से स्थिरबुद्धि चित्त की एकाग्रता, ज्ञान से साक्षी भाव और भगवान के सगुण ध्यान से अन्वय भक्ति आकर सभी चिद्विलास के आनंद का प्रत्यय दिलाते हैं ।

४. योगेन बासनारोधो, व्युत्थाने विश्वसत्यता ।

निरासाय महच्छत्र वेदांत श्रुतिशासनम् ॥४४॥ (यष्टी ७, पृ. २१)

योग से वृत्तियों का निरोध होता है और समाधि प्राप्त होती है इससे दुःख शांत हो जाता है और फिर समाधि से वृत्ति के उठ जाने पर जग की सत्यता जान पड़ती है और फिर से दुःख प्राप्त होता हे । जग की सच्चाई पर एक बार विश्वास हो जाने पर भी कितने ही दिन समाधि क्यों न लगाई जाए, जागने पर जग सत्य ही जान पड़ता है । अतः जग की असत्यता को साबित करने का कार्य सांख्य और योग से नहीं किया जाता ।

साबित करने का कार्य सांख्य और योग से नहीं किया जाता ।

इस जग की सच्चाई को समाप्त करने का जिस एक मात्र अचूक शस्त्र का प्रयोग किया गया है वह है श्रुतिमात्य द्वारा पठित वेदांतशास्त्र अतः चित्त का ब्रह्माकार रूप होना यह कार्य ध्यान से न होकर प्रेम से संपन्न होना चाहिए ।

* ध्यान से अपने चित्त को ब्रह्मरूप बनाना, योग है ।

* ज्ञान से अपने चित्त को ब्रह्म रूप बनाना, वेदांत है ।

* परमप्रेम भाव से अखंड ब्रह्म रूप पाना यह भक्ति है।

(५५)

निष्कर्ष

इस तरह हम यह देखते हैं कि सांख्य, योग वेदांत और भक्ति ये सभी एक दूसरे के पूरक हैं । उनमें जो विरोध दृष्टिगत होता है वह धरातल का है, अंतर्गत नहीं । इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को महाराज अपने साहित्य में बार - बार कहते हैं । साधक होने पर वैराग्य से योग आचरित कर परमप्राप्ति कर लें और यदि पहले ही ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है तो प्रारब्ध को अभिभूत करने के लिए या कई जन्मों के प्रारब्ध का एक साथ उपयोग करने के लिए योग का आश्रय लेना चाहिए । यही कुछ मार्गदर्शनपरक तत्त्व हैं जो महाराज के साहित्य में यहाँ - वहाँ बिखरे मिल जाते है । आसान शब्दों में मर्म को व्यक्त करना, महाराज की शैली प्रशंसनीय है । योग के समान दुख विषय योग प्रभाव ग्रंथ में सुबोध रीति से बतलाया गया है अतः सामान्य वाचक में भी योग के प्रति जिज्ञासा कुछ अंश में तृप्त होती है और आधुनिक योगी योग के बारे में जो कुछ भला - बुरा कहते हैं, उसका सार या असार कहिए, वह भी महाराज के योग विवेचन से सहज स्पष्ट होता है । योग संबंधी अनेक भ्रम दूर हो जाते हैं । कुंडलिनी, चक्र, आदि के बारे में महाराज के विचार महत्त्वपूर्ण हैं । उनके अध्ययन से प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन करते समय अपेक्षित समन्वय की दृष्टि अभ्यासकों को दिलाने में महाराज ने यश प्राप्त किया है ।

संदर्भ

१)योगप्रभाव, पृ. १३३ २)योगप्रभाव, पृ. ५ ३)निदिध्यासन प्रकाश अ. ६ ओव्या ४६-५१ य १, पृ.१३३ ४)योगप्रभाव, पृ.८ ५)पत्र यष्टि १२, पृ. १५५ ६)साधुबोध, य ५४, पृ.१२१ ७)सांख्यसुरेन्द्र य. १४, पृ. २०४ ८)य. ७ पत्र २७, पृ. १९५ ९)योगप्रभाव, ओव्या ३४, य. १५, पृ. ८३ ११)योगप्रभाव ओव्या ६६ पृ. ८५ १२)पत्र, य १२, पृ. ८६ १३)पत्र, य ७, पृ. १९६ १४)पदांची गाथा, य ९, उत्तरार्ध पृ. ३५८ १५)योगप्रभाव, य. १५, पृ. ९५-९६ १६)योगरहस्य, पृ. १९-२०-२१ १७)योगप्रभाव, पृ.२७१ १८)योगप्रभाव, पृ. २७९ १९)योगरहस्य कुंडलिनी जगदंबा-ओवी ६-२३ २०)योगप्रभाव गद्य, पृ.२८५ २१)योगप्रभाव, पृ. १२७ २२)पत्र २७, य. ७, पृ. १९३ २३)य. ७, पृ. १९३ २४)य. ७, पृ. १९५ २५)यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि - यह योग के आठ अंग है । २६)ध्यानयोग दिवाकर अ. १. अबीफ ७-१४ २७)हिरण्ययोग

(५६)

अ. ४, ओवीफ ५६ २८) आदिष्टिवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः । तथा लिखितवान् प्रातः प्रवुधबुधकोशिक : ११ २९)हिरण्ययोग अ. ६ ओवी ६५ ३०)हिरण्ययोग अ. ३ ओवी २४-२५ ३१)हिरण्ययोग अ. ४ ओवी ९१ ३२)योगप्रभाव, पृ. २३ ३३)योगप्रभाव, पृ.२४ ३४)योगप्रभाव, पृ. २४ ३५)येथे समाधिशब्दार्थ । ध्यातृध्येयैय परमार्थ । की जीवेश्वरभेद समाप्त । व्युत्थानीहि जयाचा ॥ ६४॥ ऐसे आधिकारिक । ज्ञानी भगवदुपासक । भक्तिवाचूनी दुष्ट दुःख । ज्ञानी ही भोगिनी ॥६५॥ - गीता संगति द १, पृ.८५ ३६) प्रियलीला महोत्सव आगमनविलास अ. ६, य. ३, पृ. ८४ ३७)पुत्रादिरूपा गौणीभक्ति विरहिनीरूपा परमप्रीती । ही नारदीय भवनी । महांवाक्यार्थ स्फ्रित असे ॥६४॥ भक्तिपद तीर्थामृत अ. १ ३८)हे दोन्ही प्रमाणवचन । ताटस्थ्या निषेधीति पूर्व । ते जावया कारण । भक्ति संपन्न अन्वये ॥३॥ तेचि उठलिया वृत्ती । जी रूपमयवृत्ति । ती ब्रह्मरूप अनध्यस्ती । विवर्ती सांपडे ॥ ध्यानयोग दिवाकर, य. १, पृ. ७५ ३९)पत्र १०, य. १, पृ.५७ ४०)योगप्रभाव, पृ. ४५१-४५६ ४१)समाहितात्मनो । ब्रह्मन ब्रह्मणः परमेष्ठिनः हृद्याकाशदमुन्नादो वृत्तिराधाद्विभाव्यते ॥३७॥ ततो भूत त्रिवृत्तिकारो यो व्यक्त प्रभवः स्वराट् । यत्तल्लगं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥३८॥ स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षात् वाचकः परमात्मनः स सर्वमंत्रोपनिष्दद्वेजबीजं सनातनम् ॥४१॥ ततो क्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः ॥४३॥ तेनासौ चतुरोवेदांश्चतुर्भिवदनैर्विभुः ॥११४॥ भगवत। ४२)योगप्रभाव, पृ.७१ ४३)....जो परमेश्वर हृदयनायक तो अनाहत नाही सम्यक् । उपजवी श्रुती ॥ ४३३॥ तो प्रणव एक वेदू । तत्पर त्वद्गतसमष्टि स्वप्नलोक संबंध । स्वाधिष्ठान चक्री ब्रह्मा विनोई । चारी वेद जे सांगे ॥ ४३४॥ तेचि ब्रह्मदेनच्या मुखे करुन बोलिजे चतुर्वेद निर्माण कवा कुंभक करताधणि ब्रह्मयाचे ध्यान । हृदयी बोलिले योगशास्त्री ॥४३५॥ लेय जे अनादतनाहाच स्थिति । सहावे अभ्याची तात सांगती । तेथ जी होय शब्दोध्यति । त्या ज्या श्रुती त्वद् सामी ॥४३६॥ तूंचि तयांचा वक्ता न्याय । परी हा अवध्य त्वत्समष्टयंश । तूं एक आपणास । देह भानिसी म्हणेनि ॥४३७॥ ते ४४१ संप्रदाय सुरततरु अ. ८ पृ. २७३ ४४)योगप्रभाव ३८ ४५)प्रियलीलामहोत्सव अ. ८, य. ३, पृ. ८८ ४६)योगप्रभाव ओविफ १०९-११८, य. १५, पृ. ८८ ४७)उपायासी जरि विकल्पता। तरी फल आहे परमसाम्यता । यालागी ईश्वराधबा गौणता । शंकता नय॥१०९॥ रोगी वैयो शमें न उठोनी । तरी जीवने पाजादे । आन मोची । तेये माय कृष्णाहावी । न्यूनता घटे ॥१०॥ तैया निजप्रयत्नी जो असमर्थ । निर्गुणी न प्रदेशे जयाचे चित्तं । तयासी 'वा' शब्दे विकल्पित । ईश्वराधन बोलिले मुरी ॥१११॥ योगप्रभाव य. १५. पृ. ८८ ४८)य. १४, पृ. ६५ ४९)य १४, पृ. १०७ ५०)य. १४, पृ. १०६ ५१)म्हणोनि निजरामेरुराराधान । हे करणे लागे प्रयते करुन । याचिलागी । योगसाधन प्रथम बोलिले सूत्र भाष्यी ॥१०५॥ परी विरक्ती असोनी । अधीर दीन अंतः करलीं । तो आलभिन्न परेथ मानोनी । प्रणिधान करी ते योग पावे ॥१०६॥ पृ. ८८, योगप्रभाव, य. १५, अ. २ ५२)योग प्रभाव, पृ. ६०-६१ ५३)निदि. प्रकाश अ. ६, ओवी २७-४१, य. १, पृ. १२६। ५४)योगिनापि सर्वेषं मद्गतेनान्श्रतरात्मा श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्तोतमो मतः । ११ गीता अ. ६ । ५५) रुक्मिणी पत्रिका अ. ४, आवियां ६०-७५ य. १, प$_{c}$. १०९-११० ५६)स्त्री गीत ५८९, य. ४, पृ. ५८ ५७)योगमार्गाने जाणावे निर्गुण । रसाने सगुण भोगावे की ॥१॥ ज्ञान तो प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञा भक्ति । श्रोतृवक्तृचिती रसयोग ॥३॥ योगाने स्तब्धता, रसाने सगद्गद् । ज्ञान प्रेम शुद्ध कृष्णाचि ब्रह्मी ॥४॥ अभंग ८६६, य. २, पृ. १८६ ५८)प्रियलीलामहोत्सव य. १४, पृ. ६५ ५९)य. १४, प. ६५ ६०)प्रियलीलामहोत्सव ओवियाँ ४३६.४३८, य. १४, पृ. १५७ ६१)ओविफ ४१-४२ य. १, पृ. ३३ ६२)य. ३, पृ. ८३ ६३)य. ३, पृ. ८३ ६४)योगप्रभाव, पृ.४२ ६५)प्रि. ली. अ. ७, ओवी ५९ य. ३, पृ. ८८ ६६) य. २, उ. पृ. ४८ पत्र १९ ६७)अलौ. व्याख्याने प. ७२ ६८)य. ४ स्त्री गीत ६४० ६९)य. ७, पृ. २२

ooo

(५७)

संतो के साक्षात्कृत् ग्रंथ

बालांध होकर भी कुल चौंतीस वर्षों में प्रज्ञाचक्षु गुलाबराव महाराज ने लगभग सवा सौ ग्रंथों की रचना की है. उन सभी ग्रंथों का सार रूप मेरे अल्प बुद्धि से लिखने की कोशिश इस में की है. उनकी रचनाओं में समाहित सभी विषयों की ओर नजर डालने पर महाराज बहुत ही बडी वैचारिक संपत्ति की जुगाड कर चुके है, यह प्रतीत होता है.

अनुभवप्रधान ग्रंथों के प्रकार

भारतीय दृष्टि में सभी दर्शनों को अनुभव का विषय माना गया है. अतः भारतीय दर्शन के ग्रंथ पारमार्थिक अनुभव के आधार पर ही लिखे गए है. यह अनुभव श्रवण-मनन और निदिध्यासन इन तीनों पर अवलंबित होता है. सिद्ध पुरुष इन तीन साधनों से ऊपर उठ चुके होते है. किन्तु साधक भी अपनी साधना दृढ करने के लिए अध्ययन के बल पर ग्रंथो की रचना करते हैं. अतः भारतीय दर्शन के ग्रंथों के कुल चार प्रकार महाराज ने बतलाए हैं - श्रवण ग्रंथ, मनन ग्रंथ, निदिध्यासन ग्रंथ एवं साक्षात्कृत ग्रंथ.

१. श्रवण ग्रंथ

साधक द्वारा श्रवण किए गए अनेक सिद्धांत युक्तिवाद और उपपत्ति के साथ ज्यों का त्यों यहां एकत्रित किए जाते हैं. वेदांत के अनेक ग्रंथों का अच्छा हिस्सा इसमें संगृहीत किया जाता है. लेखक के अपनी युक्ति और अनुभवों का इसमें कोई स्थान नहीं होता. जिसे कई ग्रंथों का पठन करना हो, वह कोई एक श्रवण ग्रंथ पढ लेता है तो वह बहुश्रुत बन जाता है. उसकी अनेक ग्रंथों के अध्ययन की इच्छा इस एक ग्रंथ से पूर्ण होती है. ''उधृत वचनों का संग्रह'' इस ग्रंथ की विशेषता है।

(५८)

२. मनन ग्रंथ

इस ग्रंथ में गुरुमुख से सुने गए शास्त्रीय सिद्धांतों को लिखा जाता है और उसके साथ ही अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों की सहायता से प्रतिपक्ष का उत्तम खंडन और स्वपक्ष का मंडन किया जाता है. अतः श्रवण किए गए सिद्धांत को मन में दृढमूल करने के लिए इन ग्रंथों का उपयोग होता है किन्तु अनुभव की टीस इसमें कहीं भी दिखलाई नहीं पडती.

३. निदिध्यासन ग्रंथ

श्रवण और मनन दृढ होने के बाद मुमुक्षु जब निदिध्यासन करने के बाद अनुभव प्राप्त करता है तब उससे जो ग्रंथ निर्मिति होने लगती है, उसमें उसके अनुभव के मार्ग के यथासांग उपपत्तिसहित विवेचन विस्तारपूर्वक उपलब्ध होता है. अनुभव का वर्णन होते हुए भी उसमें लेखक के अनुभव मार्ग की एक ही प्रक्रिया आंरभ से अंत तक वर्णित होती है. इस कारण ''सार्वत्रिक मार्गदर्शन'' इस ग्रंथ से मिलना संभव नहीं है. ग्रंथकार के समान स्वभाव प्रकृति का पाठक हो तो ही उसे इससे मार्गदर्शन मिल सकता है. किंतु अनेक प्रकार के साधकों को अनुभव की दृष्टि से इस ग्रंथ का सरेआम उपयोग नहीं हो सकता. ''साधकावस्था से आत्मज्ञान होने तक एक साधक की दशा का आलेख'' इस दृष्टि से निदिध्यासन ग्रंथ का महत्त्व है.

४. साक्षात्कृत ग्रंथ

योगवाशिष्ठ में अज्ञान की ७ और ज्ञान की ७ भूमिकाएँ बतलाई गई हैं. उनमें ज्ञान के चौथें 'सत्वापत्ति' नामक भूमिका को पहुँचने पर साधक को आत्मानुभव प्राप्त होता है. उन्हें पार करने पर वह साधक जगद्गुरुपदपर आरूढ होता है. विषयलंपट पुरुष से लेकर ज्ञानीभक्तों तक सबको वही मार्गदर्शन कर पाता है. ऐसे महान व्यक्ति जब ग्रंथ

(५९)

रचना करने लगते हैं तो वे अज्ञान की प्रथम दशा से लेकर ज्ञान की ७ वीं दशा तक के हर किसी को उसके ग्रंथ से मार्गदर्शन मिलता है. वेद, पुराण, भगवद्गीता और नारदाचार्य, शंकराचार्य, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर महाराज, तुकाराम महाराज आदि सत्पुरुषों का साहित्य साक्षात्कृत ग्रंथ ही माना गया है. 'नित्यनवीनता' इन ग्रंथों की विशेषता है. यहाँ प्रसन्नता की बात यह है कि श्रीगुलाबराव महाराज के ग्रंथ भी ऐसे ही नित्यनूतन है. उनके ग्रंथों में अनाडी धान कूटने वाली गँवार स्त्री से लेकर योगी, ज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ ऐसे भक्तों तक सबको मार्गदर्शन मिलता है. वेदांत के तत्त्वों को बाधा नहीं पहुँचे ऐसी नई नई प्रक्रियाओं की रचना कर साधक को उसकी योग्यता के अनुसार मार्ग दिखलाने में महाराज की कुशलता का परिचय उनके ग्रंथों से मिलता है. ऐसे ग्रंथों का परिचय करवाना बडा ही कठिन कार्य है. फिर भी महाराज के साहित्य का सामान्यतौर पर विषयानुरूप विभाजन करके परिचय लिखने की मैने कोशीश की है. महाराज के ग्रंथों का विभाजन निम्न प्रकारों में किया जा सकता है:

१. सूत्र, २. भाष्य, ३. शास्त्र,४. आकर, ५. भक्ति, ६. योग, ७. सांख्य, ८. संगीत, ९. आयुर्वेद, १०. प्रकरण ग्रंथ, ११. गाथा, १२. निबंध, १३. संवाद, १४. चरित्र, १५. पत्राचार, १६. लोकगीत, १७. स्तोत्र, १८. विविध रचनाएँ- नाटक, भाषा, व्याकरण, लिपी, क्रीडा आदि.

महाराज स्वयं अंध थे अतः अंधे की लाठी उस अर्थ में हर खंड को वे 'यष्टि' कहते हैं और संपूर्ण ग्रंथखंडों को सूक्तिरत्नावलि नाम दिया है. इस ग्रंथमाला में कुल २० यष्टि हैं, छोटे-बडे, पूर्ण-अपूर्ण ऐसे सभी ग्रंथ उनमें समाविष्ट हैं.

ooo

(६०)

श्रीमहाराज के योगरचनाओं के सारांश

१. निदिध्यासन प्रकाश

(यष्टि १, अध्याय ८, ओविधं ५४७)

नानाविध प्रक्रिया। परी उपयोगी पडेल जी जया॥
ती ती उत्तम तया। आत्मज्ञानी॥

जिसे वेदांत की प्रक्रिया से आत्मानुभव होता है वही प्रक्रिया उसके लिए उत्तम है, ऐसा समझकर हर कोई स्वमत का दुराग्रह और परमत का द्वेष छोड दे. महाराज के इस मत की प्रक्रिया से पुष्टि इस ग्रंथ में की गई है. निरक्षर से शास्त्री पंडित तक कोई भी हो, उसे सिद्ध रचित ग्रंथ से अर्थात् संत-साहित्य से ब्रह्मबोध करा देने वाली कोई न कोई प्रक्रिया अवश्य मिल ही जाती है. उसी तरह से नाना प्रक्रियाओं से समन्वित ऐसे इस निदिध्यासन को स्पष्ट करने वाला नन्हा-सा ग्रंथ साधकों के लिए कामधेनु सा ही है. इसकी कुछ प्रक्रियाएँ बहुत ही आसान है, ऐसा लगता है कुछ तो बिल्कुल ही समझ नहीं पडती. "**तुका म्हणे श्रेष्ठ ग्रंथ ज्ञानदेवी । एक तरी ओवी अनुभवा।**" इस संत वचन के अनुसार कोई एक प्रक्रिया यदि सच्चे पारमार्थिक को मिल जाती है तो उसका जीवन कृतार्थ होता है.

अज्ञ या विषयी ऐसे पामर मनुष्य भी विवेक करके मुमुक्षु कैसे हो सकेंगे? मुमुक्षु होने पर ज्ञानानुभव कैसे पाएँ? समाधि साध लेने के बाद व्युत्थान दशा में जगत्सत्य बुद्धि सगुण प्रेम भक्ति से नष्ट कैसे की जा सकती है? संधि समाधि और भक्ति का समन्वय कैसे किया जाए? आदि बातों का अज्ञ से जीवन्मुक्ति तक मार्गदर्शन उलब्ध है. साथ ही विदेह

मुक्ति में भी भक्ति कायम बनी रहती है, इसका ही निरूपण महाराज करते है.

इस चंपूग्रंथ में गद्य के साथ पद्य में ओवी, दोहा, चौपाई, श्लोक, अभंग ऐसे चार प्रकार है. पहले अध्याय में हरिनाम प्रक्रिया से ब्रह्मभावे कैसे साध्य किया जाए यह बतलाया गया है. अंतिम अध्याय में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में भक्ति ब्रह्मभाव को पूरा करती है यह निरूपित है. इस तरह से भक्ति के संपुट में नाना प्रक्रियाएँ समन्वित हुई है. दूसरे अध्याय में ॐकारोपासना की विविध प्रक्रियाएँ बतलाई है. तीसरे में गीता योगवासिष्ठ के दृष्टि-सृष्टिवाद के शुद्ध अनुभव और परमप्रेम लक्षण. भक्तिकी एकता बतालई गई है. चौथे अध्याय में समाधि साध लेने के बाद व्युत्थान दशा में संधि का अनुसंधान करना चाहिए और भोजनादि सभी वृत्तियों को कृष्णार्पण करनी चाहिए अर्थात् संधि के कारण समाधि का रक्षण होता है और प्रेमवृत्ति से भजन होकर अखंड समाधि साधी जाती है. पाँचवे अध्याय में पंचकोषों का निराकरण करने के लिए और ज्ञान, उपरति विरक्ति और भक्ति प्राप्त करने के लिए प्रक्रियाएँ बतलाई गई है. भक्ति की सहायता से ज्ञान, उपरति, विरक्ती का एक साथ अभ्यास होकर शीघ्र ही पूर्णता प्राप्त होती है, ऐसा कहा गया है. छठवें में छांदोग्य, बृहदारण्यक, कैवल्य तलवकारादि उपनिषद् श्रुति, स्मृति पुराण और स्वानुभव की सहयता से सत् चित् आनंद का विवेचन करके तत्प्राप्ति की प्रक्रियाएँ बतलाई गई है. सातवें अध्याय में सांख्य द्वारा जडचेतन विवेक से आत्मनिश्चय किया जाए, योग की सहायता से हृदय में आत्मा का अनुभव लिया जाए और वेदांत से सब ओर चैतन्य ही भरा हुआ है, ऐसा व्यापक अनुभव लेकर सुखी होवें, ऐसा प्रतिपादन किया गया है और अंत में आठवे समास में ज्ञान के बाद वैराग्य और मनोनाश साधने के लिए भक्ति करनी होती है, ऐसा योगवासिष्ठ और भक्ति का अर्थपूर्व समन्वय

बतलाया गया है और जीवन्मुक्तिगत भक्ति और विदेह मुक्तिगत भक्ति किस तरह से अनिर्वचनीय होती है इसका विवेचन किया गया है. इस तरह से निदिध्यासन को आरंभ से अंत तक प्रकशित करने वाले भक्ति का उद्घोष इस ग्रंथ में ओतप्रोत भरा हुआ है.

२. ध्यानयोगदिवाकर

(यष्टि २, अं. ६ ओरविधं ३१८ ३, पृ. ५४-७७)

ध्यान-यह योग की सातवी सीढी है. ध्यान योग से स्वतंत्र रूप में ज्ञान सिद्धि हो सकती है अतः महाराज ध्यानयोग की अनेक प्रक्रियाएँ इसमें निरूपित करते है. ध्यान करते समय हमारा शरीर ईश्वर को सजातीय मानकर शुद्ध सत्वमय कर लें फिर ईश्वर और सद्गुरु का सगुण ध्यान करें, ऐसा ध्यान योग का नियम है. इसके लिए पदस्थ ध्यान, पिंडस्थ ध्यान, रूपस्थ ध्यान और रूपातीत ध्यान की प्रक्रियाओं का स्पष्ट विवेचन किया गया है.

१) पदस्थ ध्यान की प्रक्रिया बतलाते समय ज्ञात और अज्ञात जप ईश्वर को कैसे अर्पित किया जाए? अनाहत नाद के दस प्रकार कैसे सुनाई देते है? और सिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती है? आदि का विवेचन है.

२) पिंडस्थ ध्यान में कुंडलिनी चक्र की जानकरी है और उसका आध्यात्मिक स्वरूप बतलाया है. समाधि में ब्रह्मसुख और व्युत्थान में श्रीगुरु के व्यापक प्रेम का अनुभव बताया गया है.

३) रूपस्थ ध्यान को बतलाते समय श्रीज्ञानेश्वर, श्रजनार्दनस्वामी, एकनाथ महाराज और तुकाराम महाराज के अभंगों से इस प्रक्रिया का हस्तामलकवत् निकालकर दिखलाई गई है. समाधि प्राप्ति, तुरीया और उन्मनी की स्थिति का सर्वांग विवेचन किया गया है. व्युत्थान दशा में ॐकार का सगुण श्रीहरि के रूप में अनुभव मिलता है और भगवद्

सिद्धि कैसी होती है इसका परिचय मिलता है.

४) रूपातीत ध्यान का अर्थ है अभावयोग. इसमें अधिक क्लेश होने के कारण ''रूपस्थ ध्यान की सुहास वदन में स्वीय मनोधर्म मिलाकर महायोग साध्य किया जाए. इस योग सहित भक्ति से सत्चित् आनंद का प्रत्यय होता है. परंतु अंत में तटस्थ ध्यान योग का निषेध किया गया है. समाधि से व्युत्थान होते ही श्रीगुरु और हरिहर अनध्यस्त विवर्त रूप से मिलते है. श्रीगुरु ही हरिहर रूप में विघ्ननाश करके शिष्य के बोध का रक्षण करता है. अतः परोक्ष ऐसे हरिहर की अपेक्षा अपरोक्ष सद्गुरु की भक्ति सभी प्रक्रियाओं का महाफल है, ऐसा समर्थता से प्रतिपादित किया गया है. इस रीति से प्रथम साधन रूप में और अंततः फल रूप में गुरु भक्ति सर्वत्र ही बतलाई गई है.

तया वृत्तिसंधीचे ज्ञान । साक्षीत्वे राहवे म्हणून ।
ते निर्गुणचि गुरुकृपे करून । सगुणपणा आणावे ॥

जीव को सदेह सच्चिदानंद का अनुभव दिलाने वाला यह योग ग्रंथ सच्चे पारमार्थिक साधक के अनुभव का फल है.

३ सोपानसिद्धि

(यष्टि २, पृ. ७७-८२)

आत्मज्ञान, वैराग्य और मनोनाश इन तीनों का अध्ययन एक साथ कैसे किया जा सकता है, इसका वासिष्ठ आदि ते वेदान्त ग्रंथों में बतलाया है. कभी-कभी वैराग्य और मनोनाश करने से पूर्व ही किसी को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है. ऐसी ब्रह्मविद् की भूमिका में स्थित साधक को, जीवन्मुक्ति मिले अतः इसलिये बहुप्रक्रिया से संपन्न ग्रंथ की रचना महाराज ने की है. किसी भी प्रक्रिया की सहायता लेकर साधक कृतार्थ हो सकता है.

१) विरक्ति और उपरति है किंतु ज्ञान नही ऐसे साधक को देहपात के बाद पुण्य लोक मिलता है अतः उसे ज्ञानाभ्यास करना चाहिए.

२) आत्मज्ञान होता है किंतु विरक्ति और उपरति न हो तो देहपात के बाद विदेह मुक्त हो जाता है. उसे जीवन्मुक्ति सुख नहीं मिलता. उसकी दृष्टदुःख निवृत्ति नहीं हो पाती. इसके लिए ग्रंथ में अनेक उपाय बतलाए गए है.

गुरु भक्ति की सहायता से साक्षी की पहचान कर लेनी चाहिये. भस्त्रा कुंभक योगाभ्यास, संधिदर्शन आदि अनेक उपायों में से किसी एक प्रक्रिया का अभ्यास करें. विरक्ति उपरति पाने का प्रयत्न करें और जीवनमुक्ति का सुख और दृष्ट प्राप्ति परमानंद की जाए. ऐसा उपदेश इस ग्रंथ में किया गया है. अर्थात् यह ग्रंथ साधक के लिए है.

४. हिरण्योग

(यष्टि १५, ओवि १६३, पृ. १०१-११५)[६]

हिरण्य का अर्थ है सुवर्ण. वह अलंकार/आभूषणों के रूप में भी मिलता है. आभूषणों में अपनी पसंद प्रमुख होती है. पसंद का सुवर्णालंकार मिलते ही सुवर्णयोग हो आता है. उसी तरह शुद्ध परब्रह्म रूपी सुवर्ण पर अलंकार रूपी अर्थात् अनध्यस्त विवर्त सगुण साकार रूप में ही भगवद् प्राप्ति होना अर्थात् सच्चा हिरण्ययोग प्राप्त करना है. इस भगवान की प्राप्ति से मन के कोमल, मध्य और तीव्र संवेगों अर्थात् मध्यसंवेग की साहयता स्वप्न की सहायता से, शीघ्र ही साध्य हो सकती है. ''स्वप्न निद्रावलंबन वारा'' इस समाधि पाद में योगसूत्र होने से ही स्वप्न साधन प्रक्रिया ऊपरी दर्जे की है. महाराज उसके सात श्लोकों को सूत्रबद्ध करते है. परंतु उसमें महाराज के स्वयं रचित चार श्लोकों के विवरण उपलब्ध हैं.

(६५)

हृदयीचे लोपोनि बाहेरी धुंडावे । ते देवासी नावडे स्वभावे ।
जैसे निज पुत्रे भिकारी व्हावे । हे तों नावडे श्रीमंता ॥

ईश्वर की खोज करने की अपेक्षा हृदय में स्थित ईश्वर का ही साक्षात्कार कर लेना चाहिए। प्रथम ध्यान करके मृदु संवेग से अंतःकरण में ईश्वर के आने पर स्वप्न साधना द्वारा स्वप्न में दर्शन लेना चाहिए. उसके बाद तीव्र संवेग होता है और हृदय में भगवान प्रत्यक्ष हो जाते है. वहाँ फलव्याप्ति नही होती और वृत्ति व्याप्ति रहती है. अतः भोक्तृत्वभी स्फुरण नही हो सकता और आनंद भी कम नही होता. इन सबको साध्य बनाने के लिए स्वप्न की सहायता ली जा रही है किंतु इस प्रसंग में स्वप्न के अन्य पदार्थ ईश्वर, गुरु या सत्पुरुष मनःकल्पित नही होते है. क्योंकि जागृति और स्वप्न इनको आधार ईश्वर ही कहा गया है. जागृति में दर्शन हो पाता है तो स्वप्न में भी दर्शन दिया जाता है. भगवद् देह अनध्यस्त विवर्त होकर भगवंत की इच्छा से ही प्रकट होता है. भक्त की इच्छा उसका उपादान कारण कभी नहीं बन सकती. ऐसा युक्ति सिद्ध प्रतिपादन इसमें हुआ है. सृष्टि दृष्टिवाद में संदेह को स्थान रह जाता है किंतु दृष्टि-सृष्टिवाद में तो किंचित् ही स्थान नहीं रह जाता. ऐसा महाराज का कथन है.

सताद्वयवादात स्वप्नी जाग्रत समान ।
त्यात स्वाप्निक भगवद्दर्शनहि तीव्र संवेगू ॥

निद्रागत स्वप्न की अपेक्षा शिथिलांग आसन-ध्यान करके भी मध्य संवेग में ईश्वर-प्राप्ति कर ली जाए. फिर तीव्र संवेग के साथ "**जागृति स्वप्न पांडुरंग**" ऐसा अन्वय का अनुभव लेकर हिरण्ययोग साध्य किया जाए. ऐसी प्रक्रिया इस ग्रंथ में विस्तार से वर्णित की गई है.

(६६)

५. योगांग यमलक्षण

(य. १५, दस प्रकार)

आजकल सभी योग पसंद करते है. परंतु उसके यमनियमादियों कि ओर किसी का ध्यान नहीं जाता. अतः योग की सिद्धि का अर्थ समाधि साधना कभी भी नही होता है. योग प्राप्त करना होगा तो शमदमादि षट्साधन संपन्न होकर फिर श्रीगुरु के मार्गदर्शन की साधना करनी होती है. फिर भी आधुनिक लोग साधनसंपन्नता का त्याग करके योग साधना का प्रयत्न करते हुए दिखलाई देते है. अतः योग की इच्छा करने वालों को 'यम' का लक्षण रोज पठन करना चाहिए और इस अभ्यास के लिए यह नन्हा-सा प्रकरण है.

१) अहिंसा, २) सत्य, ३) अचौर्य, ४) आर्जव, ५) क्षमा, ६) धृति, ७) शौच, ८) ब्रह्मचर्य, ९) मिताहार और १०) दया

इन दस बातों को 'यम' कहते है. इसके हर विवरण महाराज सीधी सरल भाषा में देते है. इस तरह से 'यम' साधने का रोज प्रयत्न किया जाए तो योग साध्य होने की संभावना अधिक है.

६. योग प्रभाव (पद्य)

(यष्टि १५, अध्याय २, ओवियाँ २९४)

महाराज योग प्रक्रियाओं के बारे में कई जगह लिखते है. इस ग्रंथ का विषय योगशास्त्र की सामान्य भूमिका, योग का अधिकारी, और योग का अर्थ तक ही सीमित है.

"जीव शीवाचा व्हावया मेळ । वरी समाधिलाभ निखळ।"

इस कारण योग है. इसका प्रयत्न करने वाले दो प्रकार के अधिकारी है. एक साधक दूसरा आत्मज्ञानी. साधक का लक्षण बताते

समय ''सत्संगति के अतिरिक्त हर क्षण जिसे सूतक के समान लगता है वह योग का अधिकारी है.'' '**पुत्र पत्नी धन । जया सी वाटे वामना समान**'' ऐसा कठोर वैराग्यसंपन्न साधक होना चाहिए. अशुद्ध चित्त को एकाग्र करने से वासना ही तीव्र होती है और साधक का पतन शीघ्र गति से होता है. एकाग्र चित में सामर्थ्य प्रकट होता है किंतु वासना निवृत्ति न होने के कारण सामर्थ्य की योग्य तरीके से योजना नही की जा सकती.

ज्यासि नाही विषयविरक्ति ।
तेणे चुकोनि न जावे योगपंथी।
उद्याचे मरण अंगावरती ।
आजचि ये अविरक्ता''

अतः हठयोग बहुत ही सँभलकर गुरु के मार्गदर्शन से ही किया जाना चाहिए. असद्वासना के साथ-साथ सद्वासनाओं को भी नष्ट करना चाहिए अन्यथा जडभरत की तरह पुनर्जन्म होता है या शुक्राचार्य अप्सराओं के पीछे जैसे दौड पडे वैसे ही होता है.

ग्रंथ न पाहता पूर्वापार । न करिता रहस्य विचार ।
अनुभवी श्रीगुरुचा चरणाधार । नसता शास्त्र महाभ्रमू।।

ऐसे शास्त्ररूपी महाभ्रम से छूटने के लिए श्रीगुरु के ही चरण कमल हृदय में वास करने चाहिए. इस तरह से आसान रीति से साधक की पथ्य बताई गई है. इस बारे में कूर्मपुराण का उदाहरण देकर विषय स्पष्ट किया गया है.

योग की सार्वत्रिक उपयुक्तता प्रतिपादित की गई है. तीर्थ, व्रत, तप आदि सभी साधनों को करते समय चित्त की एकाग्रता किए बिना और बाह्य विषयों की और जानेवाली चित्तवृत्तियों का निरोध किए बिना उसकी फल सिद्धि नहीं हो सकती. अतः चित्तवृत्तिनिरोध रूपी योग यही

सारे परमार्थ की नींव है, इसे महाराज स्पष्ट करते है.

''ईश्वरप्रणिधानाद्वा'' इस योगसूत्र का विवेचन नवीनता से भरा हुआ है. अपने ही प्रयत्नों के बल पर निर्गुण आत्मप्राप्ति (समाधि) कर लेनी चाहिए और सामर्थ्य न हो तो सगुण भगवान् की आराधना करनी चाहिए. इन दोनो सें एक ही साध्य प्राप्त होता है. अतः साध्य में तरतम भाव नहीं होता. इन दो प्रकारों में गौण मुख्य भेद न होकर समानता ही है. आदि युक्तिवाद सरल सहज भाषा में लिखे गए है.

एक जगह आडंबरी योगी की पूछताछ की है. वह भी रोचक है. गुरु को भी महाराज ने मार्गदर्शन किया है. '**शिष्य शिकवावे जरी। तरी वागवे साधका परी।**'' इस विचार को अनुभवी पुरुष के आचरण का आधार माना है. प्रारब्ध के कारण पाप होने पर व्यवहार में कैसा बर्ताव करना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन मूल से ही पढने योग्य है.

योगमार्ग के दोषों को बतलाते समय महाराज अपना ही उदाहरण देते है. प्रांजलता और आंतरिक उत्कटता उनके विवेचन का विशेष है. अतः साधक का धैर्य टूटता नहीं है वरन् सँभालकर ले चलने वाली माता ही निकट है, ऐसा लगता है. उसी तरह गुरु से हि सब कुछ मिलने के कारण अहंकारभी उत्पन्न नही होता.

गुरुपासोनि विद्या घेता । तरी स्वयेचि जावू लागे अहंता।
आणि शास्त्र वाचूति विद्या घेता । तरी निरहंता अभ्यासावी लागे ।।

अंत में महाराज योग और भक्ति की एकरूपता दिखलाते है.

व्युत्थानीं दास्य, संप्रज्ञाती आलिंगन । असंप्रज्ञातीं एकीभवन ।साक्षात्कारे प्रेमैकतान । युक्ततम मान्य भगवंता ।।

१. व्युत्थान में सगुण भगवान का दास्य, **२. संप्रज्ञात समाधि में** उसे आलिंगन, **३. असंप्रज्ञात समाधि में** द्वैत की विस्मृति अर्थात् जीव शिव की पूरी निर्गुणरूप एकता.

(६९)

ऐसी पूर्णावस्था प्राप्त होते ही. ''**समाधि व्युत्थानीं हरि विलसे**'' इस साक्षात्कार के निवृत्तिक ऐसी अखंड समाधि को साधा जाता है. यह महाराज का कथन है. यह व्यापक सगुण साक्षात्कार से होने वाली प्रेम की एकतानता की स्थिति है. इसे प्राप्त होने के लिए साधक को स्वयं ही कुछ करना होता है, वह है -

जीवीं धरिला परमात्मा । मग यत्न करावा फलसीमा।
मरण प्रसंग आलिया यमा । भिऊचि नये ।

७. योग प्रभाव (गद्य)

(मराठी गद्य, सूत्र ४४, पृ. ५००)

असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करना यही योग का सच्चा प्रभाव है. ईश्वर प्राणिधान के ही योग से यह प्रभाव शीघ्र ही दिखलाई देता है. महाराज योग की अनेक प्रक्रियाओं अनेक प्रसंगों में बतलाते है. परंतु इस ग्रंथ को 'इस जैसा यही' कहने का मोह टाला नही जा सकता. इस उपदेशात्मक गद्य ग्रंथ का निरूपण प्रश्नोत्तर रूप से होने के कारण बाह्यांग की आकर्षकता बढती है. यह निरूपण माधान, काजळी, और शुक्लेश्वर वाठोडा यहाँ लिखी गई. श्री त्रिपुर वार और श्री हरिभाऊ केवले ने इन्हें लेखबद्ध किया है और महाराज ने इसे जाँचा भी है. यह महत्त्व की बात है. इस प्रसंग का वर्णन त्रिपुरवार करते है.

''माधान को यह निरूपण उत्तर रात्रि में शिवमंदिर में संपन्न होता था. योगसूत्रों का निरूपण पहले बतलाकर महाराज भक्तों का रीति कथन करते थे. योगक्रिया से साध्य होने वाली उपलब्धियाँ केवल निस्सीम भगवत् प्रेम से कितनी सुलभता से मिलती है यह बडी ही मार्मिकता से सोपपत्तिक और सोदाहरण बतलाते है. भक्तों की रीती समझाते समय जब संतों का वचन उद्धृत किया जाता है तो महाराज की छंदमय रसीली वाणी,

(७०)

शिवमंदिर का रम्य परिसर, सुबह का शांत प्रसन्न वातावरण, और शीतल वायु इन सब से अभूतपूर्व आनंद का उछाल उत्पन्न होता है. इस निरूपण में वैराग्य साधन संपत्ति, ध्यान, धारणा आदि का सर्वांग विवेचन साधक के लिए किया गया है और उसमें सिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती है, परंतु उन्हें छोडकर फिर आगे कैसे जाना चाहिए इस बारे में बहुत जानकारी दी है.

पैंतीसवें सूत्र में प्रवचन में ज्ञानेन्द्रियों पर धारणा करने से दिव्य रूप-रसादि विषय प्राप्त होते है. ये विषय रज तम विरहित होते है, सूक्ष्म भूतों के सत्त्वांशों से बने होते है. इसके भासमान होते ही चित्त एकाग्र हो जाता है और अपने आप ही योगी को दशविध अनाहद नाद सुनाई देते है और ईश्वर प्रणिधान के साथ धारणा होते ही यही आनहद नाद ॐकारपूर्वक वैदिक श्रुतियों के रूप में स्पष्ट सुनाई देते है. वेदों की उत्पत्ति इस रूप में प्रत्यक्ष होती है. इससे वेदवाणी ईश्वर निर्मित है और वह जीव के उद्धार के लिए ही है यह वैदिक सिद्धांत महाराज योगशास्त्र द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखलाते है.

उसी तरह इस ग्रंथ में ''**क्लेशोऽधिकरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्**'' इस गीता की उक्ति के अनुसार येाग के निर्गुण की प्राप्ति के लिए होने वाले क्लेश ईश्वरकी भक्ति से कैसे नष्ट हो जाते है और भक्त को पूर्ण निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि कैसे सहज ही मिलती है इसकी विस्तार से जानकारी और अनेक प्रक्रियाएँ प्रासादिक मराठी भाषा में आसान तरीकों से समझाकर बताने के कारण मराठी साधकों पर बडे ही उपकार हुए है. नाथ संप्रदाय के योगमार्ग और भागवत संप्रदाय की भक्ति का सुंदर मिलाप करके महाराज अपनी प्रक्रियाकुशलता भी स्पष्ट करते है. भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न ऐसी ऋषि परंपरा महाराज तक आई है और वह आगे भी उसी तरह चलती रहे ताकि धर्म की संस्थापना का कार्य युग-युग तक चलता रहेगा. इस गीता के वचन से, और महाराज के परतत्त्वस्पर्श से पुनीत वाणी से, स्पष्ट दिखाई देता है.

८.

'कुंडलिनी जगदंबा'

ज्ञानेश्वरी निरूपण (य १५)

महाराज स्वयं को ज्ञानेश्वरकन्या कहते थे. उनके ज्ञानेश्वरी पर निरूपण सदैव ही होते थे. दुर्भाग्य से उनमें से कुछ ही निरूपण उपलब्ध है. फिर भी उनमें विचारों की पूर्णता कही कम नही होती है.

तयापासी पांडवा । मी हारपला गिवसावा ।

जेथ नामघोष बरवा । करिती माझा ॥ ज्ञाने. अ. ९-२०८

इस ओवी का विचार देखकर आश्चर्य होता है. इसमें आरंभ में - ईश्वर का शरीर मायामय पांचभौतिक नही है, यह सिद्ध किया गया है, भगवान का स्मरण करते समय ''मुख में नाम और अंतर में काम हो तो भी श्रीराम से मुलाकात नही होती.'' भीतर और बाहर सभी ओर एक ही आत्माराम भरा हुआ होता है. अतः जागृति, स्वप्न, निद्रा सबमें ईश्वर प्रेम का ही वर्णन मिलता है. इसका वर्णन महाराज रसशास्त्र के अनुसार बतलाते है. सच्छिष्य को जागृति में भगवद्वियोग और गुरुचरण संयोग होता है. स्वप्न में भगवद्संयोग और श्रीगुरुवियोग होता है. अहंब्रह्मास्मि का ज्ञान सदैव ही कायम होने के कारण अज्ञानावस्था उसकी कभी भी नही होती. अतः निद्रा में भी वह पूर्व ज्ञानसंपन्न ही होता है. हृदय में ईश्वर होते है और बाहर श्रीगुरु, इस तरह से भगवद्भक्ति और गुरुभक्ति के योग से संयोग-वियोग में सर्वत्र भक्ति का प्रेमानंद ही व्याप्त होता है. व्युत्थानावस्था ही नष्ट हो जाती है. यही अखंड समाधि कहलाती है.

ती कुंडलिनी जगदंबा । जे चैतन्य चक्रवती ची शोभा ॥

जिया विश्व बीजाचिया कोंभा । साउली केली ॥ज्ञाने. ६-२७२

चैतन्य चक्रवर्ती परब्रह्म की शक्ति का अर्थ है वेदांत की शुद्ध

बुद्धि. वही मांत्रिकों की अलौकिक शक्ति होती है. वही प्रणव की आद्यरेखा है. ऐसे इस योग के सर्परूपिणी कुंडलिनी शक्ति के बल पर पुराण और ज्योतिशास्त्र के विरोध में समन्वय भी महाराज करते है. पृथ्वी का आधार सहस्त्रफणी है, ऐसा पुराण में कहा गया है तो पृथ्वी अंतरिक्ष में निराधार है. यह ज्योतिषशास्त्र कहता है. इसका समन्वय इस रीति से होता है - हमारे शरीर में कंद स्थान में कुंडलिनी शक्ति के बल पर पृथ्वी स्थिर है. इस पिंड की स्थिति के समान ही ब्रह्मांड शक्ति के आधार पर पृथ्वी स्थित है. इस स्थिति के अनुसार ब्रह्मांड में पृथ्वी का आधार सहस्त्र फणी है. यही गुरुत्वाकर्षण या चुंबकीय शक्ति के रूप में प्रतीत होती है. इसके अस्तित्व से ही सूर्य, चंद्र, तारे आदि सब खगोल स्वस्थान में स्थिर है ओर नियमित ढंग से घूमते रहते है. इस तरह पिंड में जो कुंडलिनी है वही ब्रह्मांड में सहस्त्रफणी के (अर्थात् गुरुत्वाकर्षण शक्ति के) रूप में है. ऐसे समर्थ युक्तिवाद के बल पर ज्योतिष और पुराणो का महाराज ने योग के अनुसार समन्वय करके कुंडलिनी जगदंबा का कारणरूपत्व सिद्ध किया है।

विद्या-व्यासंग

९

योगविषयक २५ पत्रोंके सारांश

१) योगमें जगह- (य१२पत्र४६.श्री.मुळेमास्तर)- योगमें तीन जगह- अनाहत नादके दो प्रकार- स्पर्श विचार- रूप विचार.

२) योगसे गुरुपरीक्षा- (य१२पत्र३६) संसारतप्त- वर्णाश्रमसे चित्तशुद्धि हुए और पाश्चात्तापादग्ध- साधूकी लक्षण- संत एकनाथ और तुकारामने बताई हुई कसौटी- संशयी साधकके प्रकार :- १)अधिकार रहिते २)फँसे हुए ३)साधनसंपन्न- गुरुदर्शनकी रीति

३) राजयोग और हठयोग (य७.पत्र२७.श्री.तांबे)- राजयोग और हठयोग- अभ्यास और वैराग्यकी जोडी- मृत्युडरका त्याग- योग साधणका उपाय- योगमेंसे जाणनेंकी बातें - भक्तिबिना योग सरल- सत्त्वगुणकी शक्ती.

४) योग और विपर्यास- (य१२पत्र३३) बिनावैराग्य योगाभ्यास- चमत्कारसे फसगत- योगका अधिकार?- वैराग्य और अभ्यासकी जरूरत- चमत्कारसे योग नष्टप्राय- योग आलॉजी बिना इझ्म हुआ-
योगपर प्रश्न- सविकल्पसे निर्विकल्प कैसे होते- निद्रका निरोध- प्राणायम और ईश्वरप्रणिधान- कुंडलिनीः भावना और साक्षात्कार?- साक्षात्कार यह योगकी अन्त्यदशा या मध्यदशा- सत्त्व और तमका निरोध कैसा करना?- योगमें सबके जवाब.

५) राजयोग (य१२पत्र२०.विट्ठल रामचंद्र सी.मुंबई)- मनका निरोध– राजयोगमें स्वप्रयत्न- योगका अधिकार- एक औरत की कथा - मस्तकपर हात रखणा- **शास्त्रप्रत्यय, गुरुप्रत्यय और आत्मप्रत्यय.**

६) प्राणायाम और ध्यान- (य १२.पत्र १५.भट वकील)- जाती जन्मसिद्ध एकाग्रता यहीं उपाय- प्राणायाममें ध्यान, प्रत्याहार, धारणा -

शिवोभूत्वा शिवं यजेत्- अहंग्रहध्यान- तांत्रिकरीति-**ध्यानकी महाराजकी नयी रीति**- मंत्रोंके संबंधमें विचार- ओंकार शब्दब्रह्म- स्फोटवाद- अजपाजप.

७) बाह्य और आंतर् समाधि (य १२ पत्र ११.देवासराजे)- **अंग्रेजी बिना संस्कृत आवश्यक**- प्रेमसमाधि- चमत्कार- नास्तिककों प्रश्न- ईश्वरसिद्धि.

८) भूताकाश, चित्ताकाश व चिदाकाश (य२(उ)पत्र१७.बापू हरदास)- चित्ताकाशमें जाणेकी अडचणे- प्रयत्नवाद- यतिवेषोंसे अनुग्रह.

९) मृतदर्शनका मार्ग-(य२ (उ) पत्र १६) मृतदर्शन- तीन प्रकारके आकाश- परलोकके दोन मार्ग- प्रयत्नप्रशंसा- चित्ताकाशामें पुत्र नहीं दिखणेंका कारण.

१०) हिप्नोटिझम व योग(य १२ पत्र ३५.रामचंद्रबापू माधानकर)- वेदान्त और व्यवहार- प्लेटोकी नीचता- साक्रेटीस, डेकार्ट, कांट- थियॉसफी- आर्यके शील- हिप्नोटिझम- मुसलमानी योग- धर्माचरणके महत्व- हिप्नोटिझमसे धनप्राप्ति और योगमें वैराग्य, अभ्यास, परवैराग्य- भोंदू योगीयोंको प्रश्न- विकार और चक्रे- धारणा और समाधि- लय योगमें रंग- योगके और हिप्नोटिझमके अधिकारी.

११) सिद्धासनकी प्रक्रिया (य २ (उ) पत्र ३.रामचंद्रबापू माधानकर)- ओवीं ४, कर्म, उपासना, और ज्ञान इनके रहस्य- सिद्धासनकी प्रक्रिया.

१२) ज्ञानेश्वरदर्शनकी प्रक्रिया(य२ (उ) पत्र ९.श्री. केशवराव देशमुख महाराज)- ओवीं २१. ज्ञानदेवकें अन्तर्यार्मीत्व- निष्काम कर्मकी महती.

१३) लययोग (य२(उ)पत्र१३.मुळेमास्तर)- ओवीं २४.- मनके विश्लेषण -मनका जडभाग - वेणुनादश्रवण- लयचिंतन प्रक्रिया- विश्वरूप दिखानेंकीं प्रतिज्ञा और साधना- वेदपठणका अधिकार- पुराणका अधिकार- थियॉसफीका खंडन.

१४) वैराग्य और योग प्रक्रिया (य ७ पत्र १६.श्री. चिंतामणराव तांबे)- अभंग २३. वैराग्यके बिना समाधीके बोल याने दारुड्याके बडबडणे- अंतरी उदास हो- विश्वास अर्धवट नहीं- सांसारिकसुख देणेवाले बड़े नहीं- बिनाकारण चिंता- बंध और मोक्ष- बुढ़ापेमें विचार यहीं दवाई- क्या नहीं करना चाहिए?- देणा वैसे लेणा- दाटणा नहीं- सोवळे ओवळे न देखतें हुए नामस्मरण और योगप्रक्रिया- आँखोंकी दवाई- संसार दैवाधीन होना चाहिए.

१५) अंदर गुरुप्रेम, बाहर आत्मदृष्टि (यष्टी१.ताई खोलकुटे १.) ओवीं ३२. उदासवृत्तीका निषेध- अंदर गुरुप्रेम बाहर आत्मरूप- सद्‌गुरु लक्षण- कैवल्यका वर.

१६) योगमुद्रेकी प्रक्रिया (यष्टी१.ताई खोलकुटे २.) गुरुलक्षण- आत्मप्राप्तीके लिए बहु ग्रंथ वाचन नहीं- योगमुद्रा- चमत्कार निषेध- स्वप्नकी याद दिलाई.

१७) निर्गुण सोहं (यष्टी१.ताई खोलकुटे ३.)- ओवीं २३.श्रीगुरूके निर्गुण स्वरूप- तूम निर्गुणकी अधिकारी - पंढरी यात्रेकी पुण्याप्रदान.

१८) श्रीगुरुंके स्वरूप (यष्टी१.ताई खोलकुटे ४.)- गुरुप्रेम होणा चाहिए लेकिन शोक नहीं- गुरूके स्वरूप- निर्गुणका उपदेश-**अनधिकाऱ्याकों बतानेंका निषेध**.

१९) समाधीका प्रत्यय (यष्टी१.ताई खोलकुटे ५.)- ओवीं १३. सर्वपुण्यप्रदान- प्रेम- नास्तिक- वृत्ति, बुद्धि और अहंकारनाश- समाधीका प्रत्यय.

२०) ज्ञानोपदेश (यष्टी१.ताई खोलकुटे ६.)- श्रीगुरू और अवतार ब्रह्मसमुद्रमें तरंग- जीवत्वका त्याग- विघ्ननिवारण- समाधि- तीन कल्पना- जड चेतन विवेक- ईश्वर- पुनः पुनः अभ्यास- आश्वासन.

२१) अभयदान (यष्टी१.ताई खोलकुटे ७.)- ओवीं १२. सर्व

कल्पना- 'नरकातूनहि उद्धरीन'- कर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम, आत्मानुभव- ज्ञानदृष्टीसे स्वर्गनरक नहीं- अभयदान.

२२) मलदोष निवारण (यष्टी१.ताई खोलकुटे ८.)- बुद्धीके ३ दोष - दुष्ट विषयोंके आचरणसे आगे का जन्म- सत्कर्मसे मलदोष निवृत्ति - गुणभेदसे **मनुष्यके छह प्रकार**- प्रारब्धपर निर्भरित नहीं रहना.

विक्षेप दोष निवारण- उपासनेका अधिकारी- विक्षेपकी उपासनेसे निवृत्ति- ईश्वरोपासनेके १३ और गुरूपासनेके १२ प्रकार- अपणा अधिकार अपणणेहीं ठहराना.

आवरण दोष निवारण- ईश्वरानुग्रहसे गुरुप्राप्ति- देव के बिना गुरु श्रेष्ठ- निर्गुण उपासना- आवरण ज्ञानसे नष्ट- आपकेही पेटसे जन्म लुंगा- चमत्कारनिषेध- महावाक्यका अर्थ.

२३) ब्रह्मप्रयत्न रखना (यष्टी१.ताई खोलकुटे ९.) ओवीं १०. कर्मसे अनुभवका रोध नही होता- ब्रह्मप्रयत्न रखना- लयविघ्न- महावाक्यसंवृति- सच्चा साधु कौन?

२४) ब्रह्मस्थ होण्याचा मार्ग (यष्टी१.ताई खोलकुटे १०.)- अभंग १२. ब्रह्मनिष्ठेका उपदेश- विवेक-वैराग्य-शमादिषटक-मुमुक्षेके लक्षण- महावाक्यबोध- व्यतिरेक और अन्वयका अनुभव- सर्व वृत्ती ब्रह्मरूप- भक्ती ही योग/ज्ञानके विश्रांतिस्थान- वृत्तिसाक्षी और ब्रह्मस्थ हो- 'जन्मोजन्म तेराही पुत्र होऊंगा' -जीवन्मुक्तके जन्म लीलामात्र.

२५) योगसे ताटस्थ्य (यष्टी१.ताई खोलकुटे ११.) ओवीं २२. श्रीगुरुवचन- खेचरीमुद्रा- मिथ्या शरीरके रक्षण व्यर्थ- योगसे वृत्तिताटस्थ्य.

.....

(७७)

१०

योग-प्रश्नोत्तरी

*- श्रीगुलाबरावमहाराज लिखित **साधुबोधसे***

१. योगशास्त्र में पढा हुआ मूर्ख कौन?

* यमनियमों को छोड आसन, प्राणायामादि का जो अभ्यास करता है।।

* वैराग्य को छोड जो अभ्यास के पीछे पडता है ।

* लोगों को फसाने के लिए ही जो मन की एकाग्रता करता है

* योगाभ्यास साध्य होने पर भी जो सिद्धिकी आशा से रोज नयी नयी धारणाएं बदलता है। ये चारों यदि श्रीभगवान् शंकर के पास भी योग सीखते होंगे तो भी गुरु के सिरपर अपयश का ही घडा फोडेंगें ।

२ हठयोग किसके उपयोग का नही ?(२५८)

जिसकी कही से भी एक बार निष्ठा उड गई हो ।

३ दुर्योग किसको कहते हैं?(५५१)

जिस योगमें मनका निरोध न होते हुए केवल इंद्रियों के चमत्कार की ओर दृष्टि जाती है। ऐसा योग केवल निकृष्ट गुरु ही बतलाते रहते है।

४ प्राणायाम से आयुष्य बढती है, ऐसा आर्य धर्म में कहा है। क्या यह सत्य है?(५९०)

अवश्य सत्य है। घडी की तरह मनुष्य देह भी एक प्रकार का यंत्र है, जो नैसर्गिक नियमों के अनुसार चलता है। सृष्टि में कुछ स्थिर और कुछ सतत चलनेवाले है।

कुछ पदार्थो की बीच-बीच में विश्रान्ति की आवश्यकता पडती है। मनुष्य प्राणी की शक्ति भी बीच-बीच में विश्रान्ति की अपेक्षा करती है। यह अपने व्यवहार में सदा देखते हैं। सोते समय मन को तो जैसे तैसे

(७८)

विश्रांति मिल जाती हैं परंतु प्राण को कभी नहीं मिलती । उलट उसकी स्वाभाविक गति की अपेक्षा उससे गैरवाजवी काम लेते है। तात्पर्य यह कि प्राण की दृष्टि से अपने अनावश्यक व्यायाम कराते है।

प्राणायाम की कुंभक क्रिया से यह कमी पूरी होती है और जिस प्रकार सोकर उठने के पश्यात् मनुष्य को अधिक ताजगी का अनुभव होता है उसी प्रकार प्राणायाम करके उठने के पश्चात् नाडियों मे ताजगी का अनुभव होता है। इसके सिवाय कसरत से जैसे अवयवों को बलवान बनाया जा सकता हैं। उसी प्रकार प्राण को रोक रखने की आदत पड गयी तो रोग से श्वास बंद होने का मौका आनेपर मनुष्य एकाएकी घबराता नहीं । इस कारण अकाल मरण के अवसर पर यदि श्वास निरोध से मनुष्य न घबराया तो सृष्टि नियम के अनुसार उसे नवीन जीवन मिलता हैं। और श्वासोच्छवास पर तो अधिकार जमता ही है ।

रोज के रोज प्राणायाम के समय पसीना निकल जाने से रोगों का विष शरीर को बाधा नहीं पहुंचा सकता । और शरीर के हरएक परमाणु का व्यायाम हो जाता है। बफारे की चिकित्सा की अपेक्षा यह चिकित्सा कहीं अधिक अच्छी है। नार्वे देश में सौ सौ साल के बूढों के ब्याह होते है क्योंकि वैसे लोग वहां बूढे समझे ही नहीं जाते । क्योंकि वहा हवामान से स्वभावतः उनकी आयु अधिक होती है। वैसी ही स्थिति हम हर जगह उत्पन्न कर सके इसलिये यह प्राणायाम की रीति हमे महर्षियोंने दी है। प्राणायाम सें आयु बढती हैं, यह कोई जादू नहीं यह तो एक शास्त्र ही है।

५ इस समय आर्यावर्त में बहुत से प्राणायाम करनेवाले हैं, परंतु उनकी आयु क्यों बढी हुई नहीं दीखती ? (५९१)

उनकी आयु कभी बढेगी भी नहीं । क्योंकि प्राण की गति दो प्रकार की हैं। स्वाभाविक और ऐच्छिक । सब समय तो श्वासोश्वास चलता

(७९)

रहता हैं वह उसकी स्वाभाविक गति है। और क्रोध उत्पन्न होने पर जो श्वास चलता है वह उसकी ऐच्छिक गति है। इच्छा से उसका संबंध होने के कारण उसे ऐच्छिक कहते है। आजकल के प्राणायाम करनेवाले पैसा कमाने के लिए योग शालाएं खोलते है। इसपर से ही उनकी इच्छा का दमन कितना हुआ हैं यह सहजही मालूम हो जाता हैं। ऐसे ये योगी साधु क्रोधित हुए कि बस साधारण मनुष्य की अपेक्षा तो क्या परंतु सर्पकी अपेक्षा से भी अधिक दूरतक उनका श्वास जाता है। स्वाभाविक श्वास की गति का तो वे निरोध करते है, पर इस ऐच्छिक गति का निरोध नहीं करते । इससे एक और गति देने और दुसरी ओरसे गति रोकने के कारण प्राणायाम से उनके फेफडों का चूरा चूरा बन जाता हैं। इसलिए प्राणायाम के साधक को योगशास्त्र के यम-नियमों का पालन करना आवश्यक कहा गया है।

आजकल के आशाब्द योगियों का आयुष्य बढा नहीं तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं, पर वे इससे जल्दी मरे क्यों नहीं, यही मुझे एक बडा आश्चर्य है। इसके सिवाय मैने योगपर व्याख्यान देनेवाले जितने भी साधु देखे उन्हें निश्चय ही प्राणायाम का अभ्यास ही नहीं था वे साधु अभी भी जीवंत है। और आवश्यकता दीखे तो वे मुझ से सामना कर सकते है। यह मेरा उन्हें आव्हान है। ठंडके दिनों मे प्राणायाम करनेवाले को ठंड नहीं लगती, यह सबके देखने योग्य एक सरल अनुभव है। और सशास्त्र मेहनत करनेवाले को यह अनुभव एक महिने के भीतर ही हो जाता है।

रोगनिवारण

६ योगाभ्यास का साधन पूरा होने पर भी नास्तिक कौन रह जाता हैं?(६४८)

जो अपने सब मानसिक बल को शारीरिक रागों के निवारणार्थ ही खर्च करता है। क्योंकि अपने सामने की थाली छोड दूसरे भाई के

(८०)

सामने की थाली खींचनेवाले को माता जिस प्रकार सजा देती है उसी प्रकार औषधियों में ईश्वरने अपनी शक्ति राग निवारणार्थ रक्खी है। उसका उपयोग न कर जो चाहे जहां योग शक्तिका उपयोग करता है वह भगवान को प्रिय नहीं होता । दूसरे, योग जब सधहीं गया तो फिर मृत्युके पश्चात् सूर्य मार्ग तो निश्चित ही है, परंतु फिर जिसे अत्यंत शरीर के मोह के कारण सूर्यमार्गपर विश्वास ही नहीं वह अपनी योगशक्ति शरीरपर ही खर्च करता है। इसलिए वह योगी नास्तिक ही है।

चक्रों का भावना से प्रगटीकरण

७ आजकलके योगी चक्रका जो नाम रखते है वह आपका पसंद है क्या ? (८१२)

चक्रके विषयकी और योगके विषयकी सब गुप्त बातें आज तक साधुओंनें गुप्तही रखी है, तथापि तेरा समाधान होऐसा गुप्त इस ग्रंथमेसे जितना कहते बन सके उतना मैं कहता हूं ।

अंग्रेजीं मे जिस प्लेक्सस (Plexues) कहते है उसे ही आजकल के योगी चक्र कहते है, यह मुझे पसंद नहीं । एक आधुनिक पुस्तककारने तो लार्ज बॉवेल (Large Bowel) कोंही कुंडलिनी कहा है। परंतु लार्ज बॉवेल यदि कुंडलिनी होगा तो उसे चढाना कैसे, यह एक बडा प्रश्न होगा । क्योंकि लार्ज बॉवेल यदि मस्तक में चढेगा तो बिचारे योगि कों समाधि के स्थान में मृत्यु ही हाथ आयेगी। चक्र की वास्तविक बात ऐसी है कि, शरीर के कुछ स्वतंत्रभाग मानसिक बने हुए है। मन की भावना हुई कि शरीर को न मालूम होते हुए भी विकार उत्पन्न हो जाते है। मेरा हाथ सुख रहा है, ऐसी भावना हुई तो रक्तकी क्रिया को बंद करने के लिए कुछ प्रत्येक नाडीपर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पडती । वे नाडी आप से ही वह काम करती है। अस्लर साहिबने जो मेडिसिन नाम का ग्रंथ लिखा है उसके ११२° वें पृष्ठपर ऐसा कहा है कि हिस्टेरिया नाम

(८१)

के रोग में ११२° से १२०° तक शरीरका ताप हो जाता है। साधारणतः ११०° तापमें मनुष्य बच नहीं सकता । स्त्रियोंमें १२०° के उपरभी ताप जाता है। हमें यद्यपि अपने नियमों के अनुसार इनका समझना शक्य नहीं, और ऐंसे प्रकरणमें लुच्चेपन होना भी शक्य है तो भी हमारे अनुभव के कुछ प्रकरण बिलकुल सच्चे है, ऐसा कबूल करना ही पडता है। जेकाबीके रिपार्टमें १४८ ताप का एक केस हुआ है। उभाहा केस तो १७० डिग्री ताप की थी, यह थोडी संशयित बात है ऐसा कहते है। संडो अपनी पुस्तक में कहता है कि मैं स्वतः जब अपने मन में धारणा कर लेता हूं तब मेरा शरीर इतना फूल जाता है कि मेरी पीठपर काई लोहे का खंभा भी मारे तो वह अवश्य ही टूट जायेगा । तब तो शरीर में रहनेवाली गुप्त बातें मन की भावना प्रकट होती है;, यह बात सच है।

चक्र और कुंडलिनी भी इस प्रकार की वस्तुएं हैं । और मन की भावना से वह शरीर में प्रकट होने लगती है। इसके पश्चात् उनके प्रभाव शरीरपर प्रत्यक्ष दीखने लगते है। तथापि इनके चक्षुसाक्षात्कार का भी एक मार्ग है। वह सुरतरु में देखो।

८ मनको ऐसा मालूम होने देना यह एक विकारही होता होगा, परंतु जैसा मालूम होता है वैसा सर्वत्र कुछ होनाही चाहिए ऐसी बाते तो नहीं है? (८१३)

वस्तु के विरुद्ध यदि कुछ मालूम पडता है तो वह वस्तु नहीं होती, यह बात यदि सच है, तो वस्तु होगी, यदि ऐसा मालूम पडता है वह बात सच है, तो फिर वह वस्तु भी उतनी ही सच होती है। गुप्त वस्तु का ज्ञान शब्द के द्वारा सुझाया जाता है। और अनंतर वह भावना से प्रकट होती है। योगशास्त्र पहिले चक्रों और कुंडलिनी के विषय में कहता है और फिर ये योगियों की भावनासे प्रकट होते है। इसी कारण गुरु वाक्यानुसार ही भावना करनी चाहिए । आजकल के योगी अंग्रेजी

(८२)

अवयवों के नाम चक्रों के लिए देते है वह योग्य नहीं है।

९ शब्द प्रमाण भावनाजनक ही होती है न ?(८१४)

अरे ! सब शब्दप्रमाण भावनाजनक नहीं होता । मासी को माता समझ, यह वाक्य यद्यपि भावनाजनक हो तो क्या तेरी मां काशी में सुख से है यह वाक्य भावनाजनक हो सकता है? इतने के लिए शब्दप्रमाण भी केवल वस्तुसूचक है, यह पक्का ध्यान में रखो । भावना के अनुसार कदाचित् शब्द से वस्तु का आभास हो भी तो वह भ्रम है। यह सब जानते हैं । इस प्रश्न से तूने अपने ही पांवपर पत्थर पटक लिया । क्योंकि प्लेक्षक को चक्र कहना यह आजकल के गुरुओं का कहना केवल भावनाजनक प्रमाणाभास मात्र हैं, यह सच है।

१० रक्त में चना बराबर भी यदि हवा चली गई तो मनुष्य मर जाता है यह पाश्चात्य शरीरशास्त्र का सिद्धान्त है। फिर शरीर में प्राण, अपान आदि वायु रहते है और वे एकत्र भी होते है, यह कैसा समझना चाहिए? (८१५)

जिस प्रकार की हवा बाहर है उसी प्रकार की हवा यदि रक्त में गई तो मनुष्य मरता है यह सच है। परंतु उस प्रकार की हवा को प्राण समझना मात्र मूर्खपन है। शरीर में आक्सिजन जाकर वह रक्तपर परिणाम करता है और वापिस कॉर्बन आता है। इस श्वसन क्रिया से ही हवा का कुछ भाग रक्त में जाता है, यह तो पाश्चात्य वैद्यों को भी कबूल करना प्राप्त है। .....

वायु के ठिकान का स्पर्शगुण प्राण में है व प्राण यह एक वायु है; परंतु उसकी संवेदना केवल नाडी को ही होती है। कार्बन वगैरह फूल

की गंध के समान वायु में मिल जानेवाले पदार्थ है, यह मैंने अपने एक पत्र में लिखा भी है। इसलिए आजकल के योगी कितना समाधि लाभ उठा सकेंगे यह बडा संशय ही है।

कोई हृदय की हलचल को बंद करना समाधि समझता है। पहिले तो पाश्चात्य लोग इस बात को कबूल ही नहीं करते थे, परंतु कुछ मूर्ख हिंदू योगियोंने वैसा कर दिखलाया तब अब कबूल करने लग गये है और पुस्तकों में लिखने भी लग गए है, परन्तु हृदय की हलचल व नाडी के ठोके बंद हो जाने पर भी दूसरे का बोलना सुन पडता है और मैं गोमाजी हूं यह देहाभिमान भी कायम रहता है। इस प्रकार की परीक्षा मैंने एक उदर रोगी योगी की (विट्ठलपंत नाम के) हरदा में प्रत्यक्ष की है। इस समय बहुत से लोग भी वहां उपस्थित थे। और ऐसा मुझे स्वतःपर करना किंवा दूसरे पर करके दिखलाना थोडासा कठिन भी हुआ तो भी कुछ अधिक कठिनाई नहीं होगी । इसके बिना मेरा प्राणायाम किसी को दीखेगा ऐसा नहीं कहता, तो भी सारी रात में मैं जालंधर बंध करके ही सोता हूं यह सबको मालूम है, उसमें जो प्राणायाम करना पडता है उससे समाधि हो जाती है। यह बात जीवनमुक्ति विवेक में स्वामी विद्यारण्यने कहि हैं, और वह सच भी है। तब यदि मैं महायोगी के सन्मुख एक बच्चा हूं तो भी आजकल के योगी चूक करते हैं ऐसा कहने में मैं कुछ हानि नहीं समझता।

अनाहतनाद

११ कान में उंगली डालकर जो नाद सुन पडता हैं, उस अनाहत नाद की दयानंद स्वामीने अपने सत्यार्थप्रकाश में बडी खिल्ली उडाई है, तब नाद से लय होता है यह कहना कुछ ठीक नहीं जंचता?(८१६)

अरे कानों को उंगली से बंद करने पर जो नाद होता है, वह

अनाहत नाद कहलाता हि नहीं । आजपामंत्र का जब एक कोटी जप पूरा हो जाता है तब जो दस नाद सुन पडते है वेही अनाहत नाद है। इन्हें अमृतनाद श्रुतियों से पहिले अच्छी तरह समझ लो । आजकल के योगी कुछ पदार्थ देकर कान में डालने को कहते हैं और उस प्रयोग से सुन पडनेवाले नाद पर ध्यान जमाने को कह उसे ही अनाहत नाद बतलाते है। यह बडी भूल है।

अनाहत नाद जप के बिना भी सुनाई पडता है, ऐसा श्री एकनाथ की भागवत में कहा गया है। वह सूक्ष्म नाभी कान में उंगली डालकर सुने जानेवाले नाद से अलग है। एकान्त स्थान में गुरुपदेश से वह नाद बगैर उंगली डाले ही स्पष्ट होता है। त्राटक से जैसे सूक्ष्म बहिर्लक्ष सधता है वैसा ही इससे सूक्ष्म अंतरलयलक्ष सधता है। यह नाद प्राण का ही होकर कुंडलिनी व्युत्थान के कारण मालूम पडता है ऐसा तातने स्पष्ट कहा है।

१२ सृष्टि की गूढ बातें जग तक प्रगट नहीं हुई तब तक वे आश्चर्यजनक रहती है, इसलिए सचमुच गूढ ऐसा कुछ नहीं है? (९१९)

ठीक हैं। सृष्टि के जड पदार्थो के गूढ जब तक प्रकट न हो तब तक वे आश्चर्यजनक है, पर मानस गूढ वैसे नहीं । मन यह इतना गूढ रूप हैं कि उससे यदि एक को एक शक्ति मिलती है तो उसीसे दूसरे को दूसरी ही मिलती हैं, इसलिए योगशास्त्र सर्वदा सुलभ होकर भी गूढ बना रहेगा ।

वासनाक्षय की नई युक्ति

१३ योग न आता हो तो ज्ञानी को वासनाक्षय कैसे करना चाहिए?

कारण का क्षय तो ज्ञान से ही होता है, तथापि एक नई युक्ति बतलाता हूं जो कभी किसीने नहीं कही ।(६०६)

मेरा ऐसा मत है कि असद्वासना को रोध करके ही क्षय और सद्वासना को भोग कर क्षय करना चाहिए । किसी यंत्र से कोई काम न लिय तो पडा पडा वह खराब होता है और यदि अधिक काम लिया

(८५)

तो भी वह बेकाम होता ही है। इसके सिवाय रजोगुण चंचल होने के कारण उसका ही रोध किया जा सकता है। और सत्वगुण का रोध कैसे करना यह योगशास्त्र में कही भी कहा नहीं । इसलिए सत्वगुण उपभोग से ही क्षय करना चाहिए । परोपकार में आनंद मालूम होना इत्यादि सत्वगुण के उपभोग समझना चाहिए । इस युक्ति से समाधि के बिना ही ज्ञानी जगद्गुरु की पदवी को प्राप्त होता है, और साधक सिद्ध की पदवी पा जाता है।

१४ भोजनके समय पदार्थोकी रुचि देखकर खाना अच्छा है या सबको मिलाकर खाना उत्तम है? (९१०)

गृहस्थ को रुचि देखकर खाना उत्तम है क्योंकि उन्हें अतिथि को सुरुचिकर भोजन करवा देने की आवश्यकता रहती है। स्वतः रुचि पहिले समझ लेने से स्त्रियों से रूचिर भोजन वे बनवा सकते हैं । परंतु विरक्त को तो रुचि की ओर दुर्लक्ष ही रखना अच्छा ।

१५ ब्रह्मचर्य सिद्ध होनेका सुलभ उपाय कौनसा ? (३७५)

संधिविहार या क्षण समाधिपर ध्यान रखना ।

ooo

(तक्ता -१)

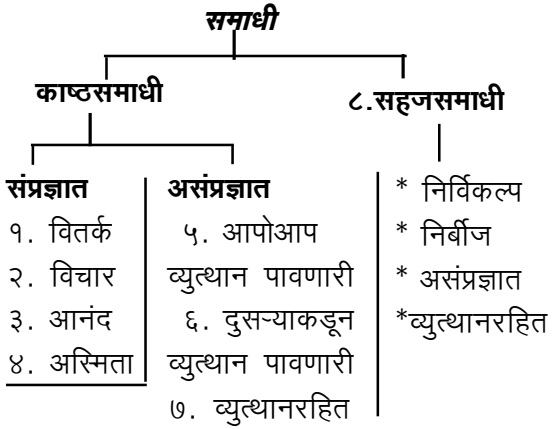

(८६)

(तक्ता -२)

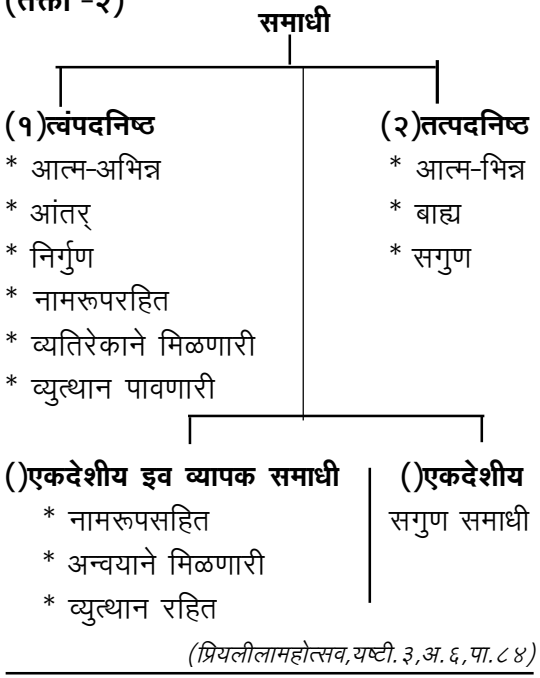

(प्रियलीलामहोत्सव,यष्टी.३,अ.६,पा.८४)

(तक्ता -३)

ईश्वरप्रणिधान

***आत्म-अभिन्न**	***आत्म-भिन्न**
*निर्गुण	*सगुण
*ज्ञानपूर्व-निर्गुण-उपासना	*ज्ञानपूर्व-सगुण-उपासना
ooo	*ज्ञानोत्तर-पराभक्ती
*व्यतिरेक-**'नेतिनेति'**	*अन्वय-**सर्वगन्धःसर्वरसः**

(योगप्रभाव-यष्टी.१५.ओ.८२-१८८)

परम भाग्यशाली

अंधपरंपरा

<u>अंधावर अंधविश्वास ठेवावा की काय?</u>

श्री गुलाबराव महाराज यावर उत्तर देतात की, तुम्हाला डोळेच नाहीत म्हणून तुम्हाला अंधविश्वास ठेवावा लागतो. आंधळ्याने जर डोळसाचा हात धरून मग त्याच्याविषयी भलभलत्या कल्पना केल्या तर काय फळ मिळेल?

* तुम्ही परमार्थाविषयी आंधळे.
* मी जगाविषयी आंधळा.
* ज्ञानेश्वरमहाराज समाधीत डोळे लावून बसलेले.
* भगवान शंकर स्मशानात डोळे लावून आहेत.
* श्रीकृष्ण गोपीने गुलाल टाकल्यामुळे रासात डोळे लावीत आहेत.
* अशी ही अंधपरंपराच तुम्हां आम्हाच्या सुखाला कारणीभूत होणार आहे.''

याप्रमाणे ही अंध परंपरा अत्यंत भाग्यशाली आहे.